TO THE READER

KINDLY use this book very carefully. If the book is disfigured or marked or written on while in your possession the book will have to be replaced by a new copy or paid for. In case the book be a volume of set of which single volumes are not available the price of the whole set will be realized

COLLEGE LIBRARY

Class No.....891.435.........

Book No.....K615.........

Acc. No.....15422.........

साहित्यिक जीवन के अनुभव और संस्मरण

२२

किशोरीदास बाजपेयी.

हिमालय एजेंसी, कनखल

साहित्यिक जीवन

के

अनुभव और संस्मरण

लेखक

पं० किशोरीदास वाजपेयी, शास्त्री

प्रकाशक

हिमालय एजेंसी, कनखल (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण, १६५३

15422

मूल्य, दो रुपए

मुद्रक : जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता – ७

सप्रेम समर्पण

राजर्षि टंडन के प्रति किए गए अन्याय-अपराध को जिसने
राष्ट्रीय अपराध के रूप में अनुभव किया और इसी
लिए उन 'बड़े' लोगों के साथ काम करना जिस
के लिए असह्य हो उठा, जिस ने जनतंत्र के प्रति
अपनी निष्ठा की उमंग में राजगद्दी पर लात मार
दी और पुनः अपने साहित्यिक रूप में जो
प्रकट हो रहा है, ब्राह्मणत्व के उस
तेजस्वी प्रतीक—

पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र को

सप्रेम समर्पित

काम और नाम से परिचित—

किशोरीदास वाजपेयी

लेखक का निवेदन

सन् १९१५-१६ से मैं साहित्य तथा साहित्यिकों के सम्पर्क में आया, जब कि वृन्दावन में संस्कृत का छात्र था। पं० किशोरी लाल गोस्वामी काशी छोड़ वृन्दावन आ-बसे थे। 'सुदर्शन प्रेस' नाम से एक छोटा-सा छापाखाना खोला था और 'वैष्णव-सर्वस्व' नाम का एक छोटा-सा मासिक पत्र निकाला था, गोस्वामी जी ने। उन के सुपुत्र पं० छबीले लाल गोस्वामी प्रेस के तथा पत्र के व्यवस्थापक थे। इसी मासिक पत्र के माध्यम ने मुझे गोस्वामी जी से मिलाया। मेरा पहला लेख 'दशधा भक्ति' शीर्षक से इसी पत्र में छपा था, १९१६ में। आगे गोस्वामी जी ने इस पत्र का 'सहायक सम्पादक' भी मुझे बना लिया था। वेतन आत्मतुष्टि मात्र।

गोस्वामी जी के ही यहाँ भारतेन्दु-साहित्य से परिचय हुआ। भारतेन्दु जी के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'वैष्णवता और भारतवर्ष' नाम के नाटक तथा निबन्ध मुझे बहुत रुचे थे। फिर श्री राधाचरण गोस्वामी से परिचय हुआ। आगे चल कर ये दोनो ही गोस्वामी 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के अध्यक्ष हुए। तब मैं इन्हें इतना बड़ा न समझता था। कुछ पता न था। 'सम्मेलन' को ही वैसा न जानता था। नाम भर सुना था।

वहीं श्री मधुसूदन लाल गोस्वामी के दर्शन हुए। आप संन्यासी थे और 'श्री राधा रमण' के मन्दिर में रहते थे--मन्दिर के बाहर, बाहरी फाटक के भीतर प्रवेश करते ही दाहिने हाथ के एक ऊँचे कमरे में। ये भी पुराने साहित्यकार थे। इन का लिखा एक अच्छा नाटक 'गायत्री-परिणय' मैं ने पढ़ा था। बड़ी बढ़िया हिन्दी लिखते थे और संस्कृत के विद्वान् थे। श्री राधाचरण गोस्वामी अनन्य वैष्णव थे--'भार-

तेन्दु'-सखा थे और समाज-सुधार के पक्षपाती थे। इसी कारण वृन्दावन-वासी 'अतिसनातनी' लोग इन्हें उस समय 'प्रच्छन्न आर्यसमाजी' कहते थे। राजा महेन्द्र प्रताप उन दिनों देशभक्ति के नशे में धुत्त हो रहे थे। राजपाट छोड़ कर विदेश जाने की फिक्र में थे। प्रथम विश्वयुद्ध में ही जो लोग देश को स्वतंत्र कर लेने की सोच रहे थे, उन में ही राजा साहब थे। 'प्रेम महाविद्यालय' की स्थापना आप कर चुके थे। फिर बहुत बड़ा भू-भाग आप ने गुरुकुल के लिए दान कर दिया। उ० प्र० आर्य प्रतिनिधि सभा का 'गुरुकुल' तब तक फर्रुखाबाद में ही था। वृन्दावन में पाँव टेकने को जगह राजा साहब ने दे दी, तो यहाँ (वृन्दावन में) धूमधाम से उठ आया। इस घटना ने ऐसा बवंडर पैदा कर दिया कि वृन्दावन की सड़क पर राजा साहब का निकलना असम्भव हो गया। गुरुकुलवालों पर तो मार भी पड़ी। इस तूफान को श्री राधाचरण गोस्वामी ने ही शान्त किया था। इस के बाद राजा साहब विदेश चले गए और मैं पंजाब चला गया। पंजाब में अमृतसर को विषाक्त करने वाले जनरल डायर का 'जलियाँवाला बाग'—काण्ड देखा। राष्ट्र-भाषा की भक्ति में राष्ट्र-स्वातंत्र्य का पुट लग गया। आगे चल कर 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' तथा 'कांग्रेस' के द्वारा बार-बार झकझोरा गया। जीवन तीन जगह बँट गया—गृहस्थी-संचालन, सम्मेलन को पूर्ण सहयोग, कांग्रेस के सभी आन्दोलनों में पड़ कर सब कुछ भूल जाना। इस के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य में गड़बड़ी!

इन सब कारणों से साहित्य-सेवा का वैसा कोई स्थायी काम न कर सका। परन्तु रोटी-दाल की तरह कुछ देता रहा, जिस का अस्तित्व क्षण भर का; पर महत्त्व कम नहीं। सन् १९३०-३२ तक यही स्थिति रही। परन्तु छुट-पुट चीजें ऐसी निकल चुकी थीं कि आचार्य द्विवेदी ने किसी तरह कहीं से मेरा पता-ठिकाना-मालूम कर के शाबासी का कार्ड भेजा। तब अपने मार्ग की दिलजमई हुई और एक दिशा में

कुछ स्थायी काम करने का विचार किया। आगे 'सम्मेलन' तथा 'कांग्रेस' में लगा रहने पर भी कुछ स्थायी साहित्य दे सका, जिस की प्रशंसा महाकवि 'हरिऔध' तक ने की। उस के आगे तो एक दिशा में ऐसा काम हुआ कि सभी लोग मान गए।

परन्तु! परन्तु यह सब होने पर भी मुझे 'सफलता' न मिली! एक बार मन में आया कि पान या चाय की छोटी सी दूकान खोल ली जाए, तो जीवन-यापन की चिन्ता दूर हो! साहित्य जाए भाड़ में, यदि बाल-बच्चों के लिए रोटी की चिन्ता! परन्तु भगवान् ने कहा—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'। और कहा—'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'—साहित्य छोड़ कर तू जाए गा कहाँ? तेरी प्रकृति ऐसी बन गई है कि वह तुझे फिर इधर ही घसीट लाए गी और 'करिष्यवशोऽपि तत्'—विवशतः तू फिर वही काम करेगा, साहित्य में ही जुते गा और पान-चाय आदि की दूकान अब तू न कर सके गा।

सो, बलात् इधर लगा हुआ हूँ—'सफलता' मृगमरीचिका हो रही है। पर अब तो थक गया हूँ। इस लिए आगे के लोगों को सावधान करना चाहता हूँ कि मेरा मार्ग न पकड़ना, यदि 'सफलता' चाहते हो, साहित्य-क्षेत्र में। 'हम बूड़े तो बूड़े भाई, तुम मत बूड़ो राम-दुहाई।'

साहित्य-क्षेत्र में 'सफलता' चाहने वालों के लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। असफलता के कारण और सफलता की कुंजी, दोनों इस पुस्तक में हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस छोटी सी पुस्तक से हिन्दी-जगत् का उपकार हो गा।

कनखल (उ० प्र०)
वैशाखी २०१० विक्रमीय

किशोरीदास वाजपेयी

साहित्यिक जीवन

के

अनुभव और संस्मरण

प्रथम उन्मेष

१९१९-१९३०

हिन्दी तथा हिन्दी-साहित्य में मेरा चंचु-प्रवेश सन् १९१५–१६ में ही हो गया था; पर वस्तुतः मेरे साहित्यिक जीवन का आरम्भ सन् १९१९ में हुआ, जब कि मैं 'शास्त्री' हो गया। १९१९ से १९२५ तक मेरे साहित्यिक जीवन का प्रथम उन्मेष समझिए। इस से पहले तो मैं हिन्दी का स्वरूप भी ठीक-ठीक न समझ पाया था! सन् १९१६ में श्री किशोरीलाल गोस्वामी से इस लिए झगड़ बैठा था कि मेरे एक वाक्य में 'दश प्रकार की भक्ति, के 'दश' को काट कर 'दस' गलत क्यों कर दिया गया! गोस्वामी जी उस समय मुस्किरा कर केवल इतना बोले थे कि हिन्दी में 'दश' की जगह 'दस' ही चलता है और क्यों चलता है, यह सब आगे मालूम हो जाए गा। सन् १९१९ तक मैं ने हिन्दी का रूप बहुत कुछ समझ लिया था; पर यह न जान पाया था कि मेरी हिन्दी को लोग कैसा समझते हैं। संयोग से एक ऐसी घटना

घटी, जिस से मुझे पता चल गया कि मेरी हिन्दी विद्वान् भी पसन्द करते हैं। बात यह हुई कि मैंने एक—

गद्य-काव्य

लिखा, 'जलियाँवाले बाग' में और उस के चारो ओर जो कुछ देखा था, उसी का चित्रण अपनी शक्ति के अनुसार किया था। जहाँ तक शक्ति थी, बहुत अच्छी चीज तैयार की थी। सोचा, किसी अच्छी जगह प्रकाशित होना चाहिए। उस समय हिन्दी की एकमात्र प्रतिष्ठित ग्रन्थमाला थी—'हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर' (हीराबाग, बम्बई)। इस ग्रन्थमाला के संचालक श्री नाथूराम प्रेमी की उस समय हिन्दी-जगत् में अत्यधिक प्रसिद्धि तथा प्रतिष्ठा थी। प्रेमी जी स्वयं विद्वान् साहित्यकार हैं। मैं ने अपना वह गद्य काव्य 'जलियाँ-वाला बाग' वहाँ प्रकाशनार्थ भेजा। ऐसा कुछ याद पड़ता है कि नाम उस का शायद 'अमृत में विष' या ऐसा ही कुछ रखा था। लगभग पन्द्रह दिन बाद प्रेमी जी का उत्तर मिला। लिखा था कि हमारे यहाँ स्थायी साहित्य ही प्रकाशित होता है, दूसरी तरह का नहीं; इस लिए आप की पुस्तक वापस भेजी जा रही है। पत्र में यह भी लिखा था कि "आप की हिन्दी हमें बहुत पसन्द आई है। एक संस्कृत का पण्डित ऐसी बढ़िया हिन्दी लिखता है, यह देख कर प्रसन्नता हुई।" आगे प्रेमी जी ने लिखा था कि "यदि आप कुछ जैन संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कर दें, तो अच्छा। उत्तर पाने

पर वे पुस्तकें भेज दी जाएँ गी, जिन का अनुवाद कराना है। यह काम 'जैन ग्रन्थ रत्नाकर' की ओर से हो गा।" शब्द मुझे याद नहीं, आशय यही था।

मुझे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरी हिन्दी को साहित्य के एक बहुत पुराने और प्रतिष्ठित लेखक-प्रकाशक ने पसन्द किया है। अधिक सुख इस लिए भी मिला कि यह प्रशंसा मुझे अनायास मिल गई थी—उस पुस्तक में भाषा के बनाव-शृंगार पर मैं ने कतई ध्यान न दिया था। बोल-चाल की साधारण भाषा में हृदय की बात कह गया था। प्रेमी जी के पत्र से मैं ने समझा कि साधारण बोलचाल की भाषा भी पसन्द की जाती है और इस हद तक पसन्द की जाती है। भाषा के सजाने-सँवारने में जो सिर खपाया जाता है, उस के दर्द से मैं अपरिचित न था। वह सब झंझट भी न करने पड़े और 'बढ़िया भाषा' का प्रमाणपत्र भी मिल जाए, इस से अच्छा और क्या! 'बिनु प्रयास लंका गढ़ जीता।' एक बड़ी समस्या हल हो गई। भाषा का स्वरूप अपने लिए निश्चित कर लिया। वही आज तक पकड़े बैठा हूँ—चल रहा हूँ।

सनातनी प्रवृत्ति

मैं ने लिख दिया प्रेमी जी को कि वे तीनो पुस्तकें भेज दीजिए, जिन का अनुवाद आप कराना चाहते हैं। मुझे और चाहिए क्या था? साहित्यिक-जीवन के प्रारम्भ में

आगे बढ़ने की दिशा भी न पकड़ पाया था, चलना-बढ़ना तो आगे की बात है ! कभी कविता, कभी कहानी-उपन्यास, कभी आलोचना ; यों विविध ओर मन जाता था। ऐसी स्थिति में इतने प्रतिष्ठित प्रकाशन द्वारा सम्मान प्राप्त हो, सहस्त्रों रुपये पुरस्कार में मिलें और देश भर में नाम हो ; इस से अधिक और क्या चाहिए ? सो, पुस्तकें भेज देने के लिए प्रेमी जी को पत्र लिखा और रजिस्टरी पैकेट से वापस आया हुआ अपना वह 'गद्य काव्य' फाड़ दिया !

प्रेमी जी ने तीन पुस्तकें भेजीं--१-प्रद्युम्नचरित, २-अनिरुद्धचरित, ३-सागारधर्मामृत। एक चौथी पुस्तक शायद 'पार्श्वनाथ चरित' थी। 'सागारधर्मामृत' जैन (दिगम्बर जैन) जनों की 'मनुस्मृति' समझिए। शेष सब जीवन-काव्य। मैं वैष्णव, इस लिए पहले 'प्रद्युम्नचरित' तथा 'अनिरुद्धचरित' पढ़ने लगा। परन्तु कथानक कुछ ऐसा कि मैं उद्विग्न हो उठा ! मेरी सनातनी वृत्ति जोर से उमड़ पड़ी। मैं ने प्रेमी जी को लिख भेजा कि मैं इन ग्रन्थों का अनुवाद न करूँ गा ; क्योंकि इन के कथानक मेरी मनोवृत्ति को ठेस पहुँचाते हैं। इस पर प्रेमी जी ने पुनः अत्यन्त सहृदयता से उत्तर दिया कि आप साहित्यिक दृष्टि से काम करें, जैन कथानकों में कर्म का महत्त्व बतलाने के लिए ही वैसे कथानक हैं। प्रेमी जी ने यह भी लिखा कि आप तो किसी की चीज का अनुवाद कर रहे हैं, स्वयं तो वैसा कुछ कह ही नहीं रहे हैं। अनुवाद करने में क्या वाधा ? परन्तु मेरी समझ में प्रेमी

जी की बात न आई और यों आई हुई—स्वतः आई हुई—प्रथम सफलता मैं ने ठुकरा दी !

लक्ष्मी जी ने इस चोट को ध्यान में रखा। वे कैसे भूल सकती थीं ? अभी तक वे पूरा बैर माने बैठी हैं और मैं ने भी उन्हें मनाने की आज तक चेष्टा न की ! भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की एक सीख मैं ने १६१६ में ही गोस्वामी जी के यहाँ पढ़ ली थी—'आप को न मानै ताके बाप को न मानिए।' लक्ष्मी जी ने खूब परेशान किया, कर रही हैं ; परन्तु उन्हें भी समय-समय पर अनुभव होता रहता है कि सरस्वती की चोट कैसी होती है !

इस के बाद मेरा ध्यान पुनः संस्कृत की ओर गया। 'पुनः' का मतलब यह कि 'शास्त्री' होने से पहले ही मैं ने संस्कृत में एक छोटी सी पुस्तक लिखी थी। 'निम्बार्काचार्यस्तन्मतं च।' वैष्णवों के चार प्रमुख सम्प्रदायों में एक 'निम्बार्क-सम्प्रदाय' है। श्री किशोरीलाल गोस्वामी इसी सम्प्रदाय में थे, उन का मासिक पत्र 'वैष्णव धर्म' इसी सम्प्रदाय का मुखपत्र था, जिस के माध्यम से मैं उन के पास पहुँचा था। मैं भी इसी सम्प्रदाय में दीक्षित था। 'शास्त्री' होने से पहले ही मैं संस्कृत-अध्यापक हो गया था, और रुपये हाथ में आते ही वह संस्कृत पुस्तिका छपा डाली। इटावा के 'ब्रह्म प्रेस' में उसे छपाया था, मूल्य शायद आठ आने रखा था ; पर बिकी नहीं। तब वृन्दावन में तथा काशी में मुफ्त वितरित करा दी थी ! तब संस्कृत से हिन्दी की ओर फिर मुड़ा था। उस गद्य-काव्य

तथा अनुवाद-प्रकरण के अनन्तर फिर संस्कृत की ओर ध्यान गया ; परन्तु एक नये रूप में । सोचा, ऐसे विषयों पर संस्कृत में रचनाएँ करनीं चाहिए, जो खाली हैं—इतिहास, भूगोल, समाज-शास्त्र आदि। सोचते-सोचते मन में यह आया कि मैट्रिक के लिए यदि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कोई संस्कृत पुस्तक लिखी जाए, तो बहुत अच्छा काम हो। लिखना प्रारम्भ कर दिया। राष्ट्रीय दृष्टि से सब पाठ लिखे, महर्षि मालवीय, राष्ट्रपितामह लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी, महात्मा बुद्ध, स्वामी शंकराचार्य, महारानी लक्ष्मी बाई आदि के संक्षिप्त जीवन-पाठ दिए। संस्कृत भाषा के लिए मैं पूर्ण विश्वस्त था, क्योंकि काशी की प्रथमा परीक्षा का जब मैं वृन्दावन में छात्र था, तो अनुवाद आदि की संस्कृत देख कर मेरे अध्यापक प्रशंसा करते हुए गद्गद हो जाते थे। उस समय मेरी संस्कृत को लोग, 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' के ढंग की बताया करते थे। सच बात तो यह है कि विषय-निरूपण को श्रेय कम और संस्कृत को श्रेय अधिक है कि मैं संस्कृत की परीक्षाओं में वैसे उच्च तथा सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता रहा। इसी बल पर वैसी संस्कृत-पुस्तकें लिखने का उपक्रम किया था। बीच-बीच में यथाप्रसंग नीति-साहस आदि के पद्य उद्धृत किए थे, जो सीधे 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' से ले लिए थे।

पुस्तक तयार होने पर मैं ने लाला आत्माराम एम० ए० को दिखाई, जो उस समय अम्बाला डिवीजन के स्कूल-इंस्पेक्टर थे। आप बड़े सहृदय तथा संस्कृत के विद्वान् थे। उस

समय मैं अम्बाला-डिवीजन के करनाल जिले में—पुंडरी के सनातनधर्म हाई स्कूल में—संस्कृत हिन्दी का अध्यापक था। इस स्कूल के प्रधानाध्यापक पं० बंशीधर शर्मा एम० ए०, बी० टी० मेरे मित्र बन गए थे; क्योंकि आप भी संस्कृत के एम० ए० थे—लाहौर के सनातनधर्म कालेज से आए थे। शर्मा जी ने ही मुझे लाला आत्माराम जी से मिलाया था।

लाला आत्माराम जी पुस्तक देख कर बहुत प्रसन्न हुए; पर सलाह दी कि इस में ईसा, विक्टोरिया तथा वर्तमान सम्राट् के जीवन और दे देने चाहिए। मैं ने ईसा का जीवन देना तो मान लिया; पर अन्य कुछ देने को राजी न हुआ। तब लाला जी ने स्पष्ट कहा कि ऐसी स्थिति में आप की पुस्तक मैट्रिक में न लग सकेगी। बहुत समझाया कि छात्रों में अच्छे विचार जाएँ गे और आप को काफी रुपये मिलें गे; हर्ज क्या है वैसा करने में; पर उन की सुन्दर सीख ने मेरे ऊपर कोई असर न किया! तब उन्हों ने कह दिया कि ऐसी स्थिति में पुस्तक इधर-उधर भेजने में डाक-खर्च और बढ़ाना व्यर्थ है। लाला जी की यह बात सुन कर मैं ने यह पुस्तक भी फाड़ दी!

'माधुरी' का प्रकाशन

इसी समय बड़े ही ठाट-बाट से 'माधुरी' नाम की मासिक पत्रिका लखनऊ से प्रकाशित हुई। 'नवल किशोर इस्टेट' के मालिक मुन्शी विष्णुनारायण भार्गव की पुष्कल धन-

राशि, श्री दुलारे लाल भार्गव का उद्योग और पं० रूपनारायण पाण्डेय का सुपरिपक्व संपादन-अनुभव ; इन तीनो तत्त्वों के सम्मिलन से 'माधुरी' का प्रादुर्भाव हुआ था—'तुलसी-संवत्, शायद ३०० था। इस पत्रिका में 'तुलसी-संवत्' ही छपता था, न ईसवी-सन्, न विक्रम-संवत्। 'माधुरी' के प्रकाशन से हिन्दी-जगत् आनन्द-विभोर हो उठा था। आचार्य द्विवेदी से हीन 'सरस्वती' फीकी पड़ चली थी, वह 'माधुरी' के प्रकाशन से और भी अधिक श्रीहत हो गई ! अन्य पत्र-पत्रिकाओं की तो फिर बात ही क्या ! हाँ, समाज-सुधार के उद्देश्य से प्रकाशमान और वर्द्धमान 'चाँद' अवश्य कोई चीज था।

'माधुरी' का अंक मैं ने नमूने के लिए मँगाया और स्कूल में मँगवाने के लिए सिफारिश की। 'माधुरी' आने लगी, मैं पढ़ने लगा। थोड़े ही दिनों में भार्गव साहब पाण्डेय जी को साथ ले कर 'माधुरी' से अलग हो गए और एक नई पत्रिका 'सुधा' निकाली—'माधुरी' के ही टक्कर की। मुन्शी विष्णु-नारायण भार्गव भी शान के रईस थे, मूंछे नीची करना पसन्द न था। 'माधुरी' के दो अच्छे से अच्छे सम्पादक चुने पं० कृष्णविहारी मिश्र और श्री प्रेमचन्द। इन दोनों विद्वान् तथा कलानिधि सम्पादकों ने 'माधुरी' का स्तर और भी ऊँचा कर दिया। मेरे कई लेख, 'सुधा' में निकले, 'माधुरी' में भी कुछ। इसी समय महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा ने 'माधुरी' में एक छोटा सा लेख छपवा कर हिन्दी के गठन पर

एक जिज्ञासा प्रकट की। आप ने इस लेख में यही लिखा था कि हिन्दी-व्याकरण के अनुसार, भिन्न–लिंग अनेक 'कर्त्ता' कारकों की उपस्थिति में, अन्तिम 'कर्त्ता' के अनुसार क्रिया का रूप होता है; पर 'देखि रूप मोहे नर-नारी' जैसे प्रयोग सामने आकर उस नियम को झकझोर देते हैं। शर्मा जी ने यह भी लिखा था कि यह पद्य की ही बात नहीं, गद्य में भी—'कश्यप और अदिति प्रणाम करते हैं' इस तरह के शिष्ट-प्रयोग हैं। तब व्याकरण के उस नियम की क्या स्थिति है?

अब तक मैं कविता या कविता पर ही कुछ लिखा करता था। शर्मा जी के इस लेख ने मुझे भाषा के स्वरूप पर भी कुछ सोचने को प्रेरित किया। शर्मा जी ने जिज्ञासा भर प्रकट की थी, समाधान के लिए कुछ न लिखा था। शर्मा जी केवल संस्कृत के ही विद्वान् न थे, हिन्दी के पुराने और प्रतिष्ठित साहित्यकार थे, 'शिक्षा' नाम की पत्रिका एक मुद्दत तक चला चुके थे और सरस्वती के वरद पुत्र पाण्डेय श्री रामावतार शर्मा तथा पं० पद्मसिंह शर्मा के साहित्यिक मित्र थे। उन की यह हिन्दी-विषयक जिज्ञासा सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् के लिए एक चुनौती थी। मैं ने इस पर खूब सोचा और समाधान ढूँढ़ा, तर्क से पुष्ट किया और लिख कर 'माधुरी' में छपने भेज दिया। मेरे इस लेख को पढ़ कर पं० कृष्णविहारी मिश्र अत्यन्त प्रभावित हुए और प्रशंसा की। मिश्र जी से वैसी प्रशंसा सुन कर मेरे मन में आया कि हिन्दी के स्वरूप पर भी कुछ लिख सकता हूँ। यह ध्यान देने की बात है कि शर्मा जी की उस

जिज्ञासा के समाधान में और किसी ने कुछ भी न लिखा और न मेरे समाधान पर ही——स्वयं शर्मा जी के द्वारा या अन्य किसी के द्वारा——कोई विप्रतिपत्ति न उठाई गई। इस से दिलजमई और पक्की हो गई कि यह भी विषय कुछ काम करने योग्य है।

इस समय तक मैं सम्पादकों को देवता समझता था!

मन में आया कि स्कूल के बखेड़े से हट कर देवताओं के बीच में रहना चाहिए। मैं समझता था कि जैसा ये लिखते हैं, वैसे ही हैं भी! पत्र-व्यवहार 'सुधा' तथा 'चाँद' से किया। दोनों जगह से स्वागत हुआ। पहले लखनऊ गया। स्टेशन पर श्रीमती जी को बैठा दिया, गोद में छोटा बच्चा था! जलती हुई लू चल रही थी। मैं 'गंगा फाइन आर्ट प्रेस' पहुँचा, जहाँ से 'सुधा' निकलती थी। भार्गव जी से भेंट हुई; पर उन्हों ने यह न पूछा कि कब आए, कहाँ ठहरे हो! एक पुर्जी मैनेजर के नाम लिख दी और कहा कि जाकर अपना काम सँभाल लीजिए! मैं लू से उतना न जला था, जितना इस 'दफ्तरी' व्यवहार से जल गया! साहित्यिक की कल्पना मेरे मन में 'सुधा' ने बहुत मीठी पैदा कर दी थी। मैं ने उन से कुछ न कहा और मैनेजर की ओर मुड़ कर वह पुर्जी फाड़ कर डाल दी, जूतों से उसे कचर भी दिया। फिर मैनेजर साहब के पास जाकर निवेदन किया कि आप के पते पर मेरी जो डाक आए, सब 'चाँद' कार्यालय (प्रयाग) को भेज दीजिए गा। मैनेजर साहब ने मेरा निवेदन नोट कर लिया और मैं वापस स्टेशन पर। श्रीमती जी आशा लिए बैठी थीं कि ठहरने आदि का

प्रवन्ध कर के आ रहे हों गे। मेरा तमतमाया मुँह देख कर भाँप न सकीं कि क्या बात है; परन्तु जब सुना कि यहाँ से प्रयाग चलना है, तो एकदम मुरझा गईं! पर बस क्या था?

उस समय हम लोगों ने वहीं आराम किया, रात में भी सोए और सबेरे की गाड़ी से-प्रयाग को चले। ठीक दुपहरी में ही—

यह गाड़ी भी प्रयाग पहुँची

उसी तरह स्टेशन पर श्रीमती जी को बैठा कर मैं 'चन्द्रलोक' पहुँचा। चलते-चलते सोचता जा रहा था कि 'सुधा' जैसी मीठी निकली, वैसा ही शीतल 'चाँद' निकला, तो क्या हो गा! परन्तु 'चन्द्रलोक' पहुँच कर अनुभव किया कि साहित्यिक अभी हैं। पहुँचते ही 'चाँद' के संचालक श्री रामरख सिंह सहगल ने जलपान कराया और फिर पूछा कि 'अकेले ही आए हैं क्या?'

"नहीं, अकेले ही नहीं, सकुटुम्ब आया हूँ।"

"तो, सब को छोड़ कहाँ आए?"

"सब स्टेशन पर हैं। सोचा कि पहले जगह का प्रबन्ध कर लूँ, तब सब को ले चलना ठीक हो गा"

"आप बड़े विचित्र आदमी हैं! क्या कहीं जंगल में आए हैं क्या? जा कर पहले उन लोगों को ले आइए।"

सहगल जी ने कुछ प्रणय-कोप प्रकट किया, जिस से उन

की सहज आत्मीयता झलक उठी। मैं क्या कहता कि लखनऊ में क्या हुआ! स्टेशन वापस आ कर सब को 'चन्द्रलोक' ले गया—'सब' का अर्थ है मेरी स्त्री और मेरा वह पहला छोटा सा बच्चा। सहगल जी से सूखा वेतन ठहरा था, ठहरने के लिए ठीहे की कोई चर्चा न हुई थी। परन्तु 'चन्द्रलोक' पहुँच कर क्या देखा कि सहगल जी के निवासस्थान तथा पं० नन्द-किशोर तिवारी ('चाँद'–सम्पादक) के आवास के बीच में एक अच्छा कमरा साफ किया हुआ तयार है, जहाँ भोजन बनाने आदि की पूर्ण सुविधा। फर्श कच्चा था, जो गोबर से सद्यः प्रमार्जित आँखों को तथा मस्तिष्क को शीतल कर रहा था। एक तिपाई पर मिट्टी का नया घड़ा, जल से पूर्ण, सोंधी सुगन्ध गमका रहा था। कमरे में दो, नई बुनी हुई, चारपाइयाँ पड़ी थीं। दो सेवकों ने दौड़ कर सामान उतारा। तिवारी जी को साथ लिए सहगल जी आ गए। मीठी-मीठी बातें हो रही थीं कि गृहिणी के लिए (और मेरे लिए तो दुबारा) सुशीतल जलपान आ गया। गृहलक्ष्मी श्री विद्यावती सहगल और उन की छोटी बहन स्वयं हम लोगों के लिए पूड़ी-शाक तयार कर रही थीं, यह सौजन्यातिशय की बात मुझे बाद में मालूम हुई, चर्चा चलने पर। आध घंटे के भीतर ही भोजन तयार हो कर आ गया, जब तक हम लोग स्नान आदि से निवृत्त हुए। विशेष बात यह कि नौकर के साथ स्वयं श्रीमती सहगल भोजन ले कर आई थीं। मन ने कहा कि जन्म भर अब यहीं रहना हो गा। भोजन कर के हम

लोग सो गए, बहुत थके थे। आज तक वह सौजन्य हृदय को आनन्द विभोर किए रहता है।

'चाँद' कार्यालय में मुझे पुस्तक-विभाग में रखा गया।

पुस्तकों का संशोधन-सम्पादन काम। कमरे में तीन मेजें लगी थीं। बीच में पं० नन्दकिशोर तिवारी बैठते थे, जो सहगल जी के साथ 'चाँद' का सम्पादन करते थे। उन के बाईं ओर श्री आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव बैठते थे, जो अच्छे कवि थे। 'चाँद'—सम्पादन में सहायता करते थे और चित्रों के नीचे छापने के लिए बहुत बढ़िया कविता लिखते थे। उन की उन कविताओं से चित्र तथा व्यंग-चित्र बोल उठते थे। तिवारी जी के दाहिनी ओर मेरी मेज थी। श्रीवास्तव जी शहर में अन्यत्र कहीं रहते थे, काम के समय आते थे।

मुझे काम करते एक ही सप्ताह बीता था कि एक घटना मजेदार घट गई। उस समय—

'चाँद' का 'अछूत अंक'

निकालने की बड़ी भारी तयारी हो रही थी। तब तक, 'हरिजन' नाम उन के लिए न चलाया गया था। एक दिन तिवारी जी ने कहा कि 'अछूत-अंक' के लिए कुछ अछूत सन्त-भक्तों पर एक लेख लिख दीजिए। मैं ने स्वीकार कर लिया और कहा कि 'भक्तमाल' मँगा दीजिए। 'चाँद'–कार्यालय का काम, प्रबन्धशीलता में, एक दम योरपीय ढंग पर था। वैसा प्रबन्ध मैं ने किसी भी हिन्दी पत्र-पत्रिका के कार्यालय का,

आज तक नहीं देखा। आध घंटे के भीतर ही बाजार से 'भक्तमाल' आ गई। विषय मेरा देखा-समझा था। देर न लगी, कोई दो-ढाई घंटे में एक लेख लिख कर तयार कर दिया। शीर्षक था--'कुछ अछूत सन्त और भक्त'। लेख तिवारी जी को दिया, तो उन की प्रसन्न आँखों ने हर्ष तथा आश्चर्य प्रकट किया। लेख पढ़ कर उन्हों ने मुझ से तो कुछ न कहा, पर उठ कर कहीं चले गए। अगले दिन की घटना से जाना कि वे उस समय सहगल जी के पास गए हों गे और इतनी जल्दी इतना बड़ा वैसा लेख लिख देने के कारण मेरी प्रशंसा की हो गी।

दूसरे दिन की बात--हम लोग काम कर रहे थे कि सहगल जी आ गए। एक कागज का टुकड़ा तार से झटक कर जेब से कलम निकाली और उस पर लिख दिया--'जो कुछ आप को देना तै हुआ है, उस में दस रुपए मासिक की वृद्धि की गई।' कागज मेरी ओर बढ़ा दिया। मैं ने ले कर पढ़ा, उछल पड़ा। खड़े हो कर धन्यवाद दिया। 'चाँद' कार्यालय के एक कक्ष में एक सूचना टंगी थी। लिखा था--'यहाँ वेतन बढ़वाने के लिए किसी को अर्जी देनी नहीं पड़ती है'। उस की सत्यता प्रमाणित हुई। वस्तुतः वहाँ प्रत्येक कर्मचारी को और जगह से सवाया वेतन मिलता था और सब लोग ड्योढ़ा काम करते थे, बड़ी प्रसन्नता से, आगे बढ़ने की आशा।

उस समय 'चाँद' सन्तति-नियमन पर जोर दे रहा था और उस के लिए नए साधनों के भी पक्ष में था। महात्मा गान्धी भी उन दिनों सन्तति-नियमन की चर्चा बराबर करते थे;

परन्तु प्राकृतिक संयम के साधन से। आप ब्रह्मचर्य पर जोर देते थे। कदाचित् 'चाँद' के पक्ष का खण्डन उन्हों ने कहीं किया था और नए कृत्रिम साधनों से विलासिता बढ़ जाने का खतरा बताया था। इस पर जो एक बड़ी टिप्पणी 'चाँद' के सम्पादकीय में देने के लिए स्वयं सहगल जी ने लिखी थी, उस का सिरा यों था—"बारह बच्चे पैदा करने के बाद महात्मा गान्धी लिखते हैं—"। आगे ब्रह्मचर्य से सन्तति-नियमन का, महात्मा जी का उपदेश लिख कर, जबर्दस्त खण्डन था। इस से आप समझ सकते हैं कि सहगल जी कैसे थे। वे किसी से दबते न थे। राजनीति में उग्र विचार रखते थे। उस समय 'भारत में अंग्रेजी राज' तथा 'चाँद' का 'फाँसी-अंक' निकालना उन्हीं का काम था।

सहगल जी ने एक अच्छी गौ भी रख छोड़ी थी। नौकर दूध दुह कर पहले मेरे बच्चे के लिए घर में दे कर तब सहगल जी के यहाँ पहुँचाता था। उस को वैसा करने को हुक्म मिला हुआ था। ठंढाई तयार करा के, ठीक समय पर, श्रीमती सहगल भेज देती थीं, जो हम तीन-चार लोग मजे से पी कर थकावट दूर करते थे। इस तरह से बड़े ही आनन्द का वातावरण था कि एक विक्षोभ की बात आ पड़ी!

एक दिन अपनी-अपनी मेज पर हम तीनो काम कर रहे थे कि गश्त करते हुए सहगल जी आ-पहुँचे। उन के आने पर सचेष्ट जन सचेष्टतर हो जाते थे; विशेषतः प्रूफ देखनेवाले। सहगल जी को न जाने क्या सिद्धि थी कि छूटी हुई गलती पर

तुरन्त नजर जा पड़ती थी। मुद्रण-कला में अत्यन्त प्रवीण थे। सो, हम लोग सचेष्ट हो गए। उस दिन वे समाज-सुधार की चर्चा करने लगे। वे प्राय: खड़े ही खड़े बातें करते थे——हम सब लोग बैठे कुछ काम भी करते जाते थे। बात-चीत के सिलसिले में सहगल जी ने महर्षि मालवीय को एक अपशब्द कह दिया! इस पर मुझे बहुत गुस्सा आ गया और मैं ने, त्यौरी चढ़ा कर, प्रतिवाद किया। 'चाँद' के सुखमय तथा सौजन्यपूर्ण वातावरण में यह कल्पनातीत बात थी कि एक कर्मचारी सहगल जी की किसी बात का इस तीखेपन से प्रतिवाद करे! क्षण भर सन्नाटा! फिर सहगल जी ने खिन्न हो कर कहा——"वाजपेयी जी, आप दूर रहे हैं। मैं प्रयाग में रहा हूँ। आप सब बातें मालवीय जी की नहीं जानते हैं।"

"तो फिर आप मुझे उन की एक-दो बातें वैसी बतलाइए न! सम्भव है, तब मैं भी आप के पक्ष का हो जाऊँ।"

इस पर सहगल जी ने आँखों मे आँसू भर कर कहा——

" 'चाँद' का 'विधवा-अंक' निकालते समय मालवीय जी की पिछले तीस वर्षों की सब स्पीचें पढ़ डालीं; पर कहीं जरा भी कुछ विधवाओं के सम्बन्ध में मुझे वहाँ न मिला।"

"तो सहगल जी, इस से मालवीय जी उस शब्द के पात्र तो नहीं हो जाते हैं! उन्हों ने देश तथा जाति के लिए जो उतने बड़े-बड़े काम किए हैं, उन का कोई मूल्य नहीं क्या? विधवाओं के सम्बन्ध में मालवीय जी ने कुछ नहीं कहा,

कुछ नहीं किया, ठीक ; परन्तु आप जैसे लोग जो कुछ कर रहे हैं, उस का विरोध तो उन्हों ने नहीं किया ?"

इस पर सहगल जी चुप रहे। तब मैं ने फिर कहा—"मेरे सामने आप कभी मालवीय जी को ऐसा शब्द अब न कहिए गा ; अन्यथा मेरा यहाँ रहना कठिन हो गा।"

सहगल जी मेरी बात सुनते हुए आगे बढ़ गए। यह सहगल जी जैसे तेज प्रकृति के व्यक्ति का मेरे ऊपर प्रेम ही समझिए कि इस तरह की बातें हो जाने पर भी उन्हों ने मुझे 'जवाब' नहीं दे दिया। परन्तु उन्हें बहुत बुरा लगा। उन्हों ने मुझ से बोलना तक छोड़ दिया ; यद्यपि वह गो-दुग्ध आदि बराबर आता रहा। उस लेख पर सहगल जी लट्टू हो कर मेरे ऊपर फिदा हैं और मैं रूस जाऊँ गा, तो मुझे मनाने के लिए वे यत्न करें गे, तब यह अनमनापन दूर जाए गा; यह मेरे मन में आया। मैं ने यह भी सोचा कि मालिक नाराज हो जाए, तो वहाँ रहना ठीक नहीं। खूब सोच-विचार कर त्यागपत्र लिखा। मन में था कि इस से या तो सहगल जी पिघल जाएँ गे, या फिर मुझे छुट्टी मिल जाए गी। त्यागपत्र में एक मास का नोटिस था कि अधिक से अधिक एक मास के भीतर आप मुझे सेवा से निवृत्त कर दें और जल्दी से जल्दी जब आप चाहें। सहगल जी के छोटे भाई मैनेजर थे। उन्हें त्यागपत्र दे आया। कोई दो घंटे के भीतर ही चपरासी चिट ले कर आया। लिखा था—'आ कर आप अपना हिसाब ले लीजिए।' हाथों के तोते उड़

गए ! इतना न सोचा था ! सोचा था कि एक मास में अपना कोई नया प्रबन्ध मैं कर लूंगा ! पास कुछ था नहीं। एक मास का वेतन मिला था और दूसरा चल रहा था। महीने के दस-पन्द्रह दिन गए थे! कैसे क्या होगा, सोच न पाया! परन्तु आन का सौदा था। मैं मैनेजर साहब के पास तुरन्त गया और उन से निवृत्ति-स्वीकृति प्राप्त कर के तुरन्त वेतन का रुपया लिया। उस समय दुपहर बाद चार बज रहे थे। कार्यालय बन्द हुआ, मैं शहर पहुँचा। एक मकान ग्यारह रुपये मासिक पर तै किया और एक मास का पेशगी भाड़ा दे कर मकान में ताला बन्द किया। शाम होते-होते टाँगा ले कर 'चन्द्रलोक' पहुँचा। सामान बाँध कर टाँगे पर रखने लगा, तो सहगल जी आ पहुँचे—

"कहाँ जा रहे हैं ? स्टेशन पर ?"

"नहीं" एक मकान किराये पर ले आया हूँ। वहीं जा रहा हूँ। जब कोई जगह ढूंढ़ लूं गा, तभी तो स्टेशन पर जाऊँ गा।"

सहगल जी बहुत दुखी थे उस समय। बोले—"यह न हो सके गा कि आप इस शहर में किसी किराये के मकान में जा कर कुछ दिन के लिए रहें। यहीं रहिए, जब कोई जगह मिल जाए, तब चले जाइए गा। नौकरी के अतिरिक्त और भी सम्बन्ध हमारे हैं।"

परन्तु मैं ने उनकी बात न मानी। तिवारी आदि तो तभी से चुप थे, मेरे चलते समय भी चुप ही रहे। मैं सामान

टाँगे में रख कर और स्त्री तथा बच्चे को साथ ले शहर आया। घर का ताला खोला, लकड़ी आदि साथ लेता आया था। खाना रात का बना। खा-पीकर सो रहे।

न जाने कैसे यह घटना शहर के साहित्यिकों में फैल गई! सबेरे--

पं० मंगलदेव शर्मा आ पहुँचे

न जाने कैसे घर ढूँढ़ा। सहगल जी को मुहल्ला शायद मैं ने बता दिया था। उस समय (आगरे के) पं० मंगलदेव शर्मा 'अभ्युदय' के सम्पादन-विभाग में काम करते थे। कहने लगे--'अभ्युदय' में काम कीजिए। जो कुछ 'चाँद' में मिलता था, वह यहाँ भी मिले गा। मैं ने उस समय 'अभ्युदय' में रहना ठीक न समझा; क्योंकि महर्षि पं० मदन मोहन मालवीय इस पत्र के प्रवर्तक थे, जिन के प्रति वैसी भावना के कारण मैं 'चाँद' से अलग हुआ था। महर्षि मालवीय के भतीजे पं० कृष्णकान्त मालवीय उस समय 'अभ्युदय' के संचालक-सम्पादक थे। पं० कृष्णकान्त मालवीय स्वयं एक बड़े साहित्यकार, नामी सम्पादक और काँग्रेस के प्रमुख नेता थे। 'अभ्युदय' अच्छा चल रहा था। प्रान्त में 'प्रताप' तथा 'अभ्युदय' की धूम थी। परन्तु प्रकरण ऐसा था कि मालवीय जी के 'पत्र' में जाना मैं ने उचित न समझा और मित्र शर्मा को धन्यवाद दे कर अपनी नाव यों ही छोड़ दी।

पत्र-व्यवहार मैं ने 'नवल किशोर प्रेस' (लखनऊ) से

किया और तुरन्त ही वहाँ से नियुक्ति-पत्र आ गया। वहाँ भी पुस्तक-विभाग में ही गया। उस समय 'माधुरी' का सम्पादन पं० कृष्ण बिहारी मिश्र तथा श्री प्रेमचन्द जी कर रहे थे। बड़े ठाट-बाट थे। पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'श्रीहरि' साहित्याचार्य भी सम्पादन विभाग में थे। एक बहुत बड़ी मेज पर दाहिने हाथ मिश्र जी और बाएँ श्री प्रेमचन्द जी बैठते थे। इस मेज के बाएँ हाथ 'श्रीहरि' जी की मेज थी। मिश्र जी के सामने मेरी मेज लगती थी। श्रीमद्भागवत का संशोधन उस समय चल रहा था। प्रूफ भी देखने पड़ते थे। दोनों सम्पादकों को डेढ़-डेढ़ सौ रुपए मासिक वेतन मिलता था। उस समय हिन्दी पत्र-सम्पादकों का यह सर्वोच्च वेतन था। दोनो सम्पादक थे, कोई 'प्रधान' या 'सहकारी' न था। परन्तु फिर भी पत्रिका के ज्येष्ठ (सीनियर) सम्पादक थे पं० कृष्ण बिहारी मिश्र।

मिश्र जी पर ही अन्तिम उत्तरदायित्व था। अपना एक अलग पत्र भी मिश्र जी का था—'समालोचक'। 'समालोचक' मिश्र जी अपने गाँव (गन्धौली-सीतापुर) से निकालते थे, स्वयं ही संचालक, सम्पादक तथा व्यवस्थापक, सब कुछ थे। बड़ा सुन्दर मासिक पत्र था; परन्तु ग्राहकों का अभाव था। मिश्र जी 'माधुरी' में लग गए, तब 'समालोचक' की स्थिति और भी गिर गई। जमीदारी कुछ थी, उसी का कुछ अंश 'समालोचक' खा रहा था। बहुत दिन चलने के बाद यह पत्र बन्द हुआ। तब से मिश्र जी

भी एकान्तवासी हो गए ; यद्यपि 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' (सीतापुर) के द्वारा कुछ न कुछ प्रेरणा देते ही रहते हैं।

श्री प्रेमचन्द जी ऊपर से रूखे जान पड़ते थे ; पर बड़े सरस-मधुर थे। मिश्र जी की गम्भीर प्रकृति शुष्कता पैदा कर देती, यदि प्रेमचन्द जी रस न बरसाते रहते। एक दिन बुद्ध भगवान् का एक रंगीन चित्र 'माधुरी' के लिए बन कर आया। मुझे भी दिखाया गया। देवताओं ने तपस्या भंग करने के लिए अप्सराएँ भेजी थीं, जो अपने काम में व्यस्त थीं और बुद्ध भगवान् अपने ध्यान में मग्न थे। श्री प्रेमचन्द जी ने हँसते हुए कहा—'सकल पदारथ हैं जग माहीं' और वह गम्भीर वातावरण जो स्तब्ध सा था, एक ठहाके के साथ रंगीन हो गया।

एक दिन एक दूसरा रंगीन चित्र आया। एक स्वस्थ रमणी अपने सुन्दर शिशु को गोद में लिए मुँह उसका तृषित नेत्रों से देख रही थी। प्रेमचन्द जी ने मुझ से कहा, इस का नामकरण, पण्डित जी, कर दीजिए। मैंने सोच कर कहा—'मा का धन' कैसा रहेगा? बहुत प्रसन्न हुए। वह चित्र इसी नाम से प्रकाशित हुआ था।

एक दिन मिश्र जी ने एक मजेदार चिट्ठी दिखाई। एक कवि जी ने भेजी थी। लिखा था कि मैं 'माधुरी' का ग्राहक हूँ। मेरी कविता छापते रहें गे, तो मैं बराबर 'माधुरी' के ग्राहक बनाता रहूँ गा। न छापें गे, तो मैं भी ग्राहक न रहूँ गा।

'साहित्यदर्पण' की 'विमला' टीका

लखनऊ के पं० शालग्राम शास्त्री, साहित्याचाय भारतवर्ष के प्रचण्ड विद्यामार्तण्ड थे। हिन्दी तो ऐसी चुस्त लिखते थे कि पाठक के मुँह से बरबस 'वाह' निकल पड़ता था। पं० पद्मसिंह शर्मा के जोड़ की हिन्दी लिखते थे। दोनो में घनिष्ठ मैत्री भी थी। शास्त्री जी 'अ० भा० संस्कृत साहित्य सम्मेलन' के अध्यक्ष भी निर्वाचित हुए थे। हिन्दी में, हिन्दी काव्यों की भी बहुत बढ़िया आलोचना लिखा करते थे। 'दुलारे दोहावली' के दोहों को खींचतान करके 'सिलाकारी' जी ने अनेकार्थक बनाया, तो शास्त्री जी ने मनोरंजक लेख 'विशाल भारत' में लिखा। ऐसा व्यंग्य-पूर्ण लेख मैंने आज तक दूसरा पढ़ा नहीं। उस लेख के बाद 'अनेकार्थ' की हवा एकदम दब गई।

उक्त शास्त्री जी का अलंकार शास्त्र पर एक विवाद मिश्र जी से छिड़ गया था। मिश्र जी को हिन्दी-साहित्य की श्री पितृ-पितामह की परम्परा से वंशानुगत मिली है। मिश्र जी ने स्वयं अध्ययन में जन्म लगाया है और इस में सन्देह नहीं कि हिन्दी-काव्य समझने में पं० शालग्राम शास्त्री मिश्र जी के मुकाबले ठहर न सकते थे। परन्तु अलंकार-शास्त्र तो दूसरी चीज है। मिश्र जी का अध्ययन भी कम नहीं; पर शास्त्री जी के मुकाबले में वे कुछ ढीले पड़ गए थे। यह सब मुझे मालूम था।

फिर भी, एक दिन मिश्र जी ने 'साहित्य दर्पण' की 'विमला'

टीका की बड़ी प्रशंसा की। कहने लगे, आप के देखने योग्य चीज है। मिश्र जी के मुख से प्रशंसा सुन कर मैं ने कहा, आप के यहाँ हो, तो लेते आइए गा, देख लूँ गा। कहा--'छुट्टी पर घर (सीतापुर) जाऊँ गा, तो लेता आऊँ गा। वहीं है।' छुट्टी पर मिश्र जी घर गए; पर पुस्तक लाना भूल गए। कहा, इस बार याद रख कर लेता आऊँ गा।

तब तक मैं काम से ऊब गया। संशोधन के लिए सामने पोथा रखा ही रहता था। दिन भर बैठे-बैठे ऊब जाता था, आँखें भी थक जाती थीं। अन्ततः अपने पुराने काम की ओर फिर रुचि मुड़ी। और लिखा-पढ़ी कर के गुरुकुल-काँगड़ी चला आया। यहाँ एक पं० ईश्वर चन्द्र जी अध्यापक थे। प्रौढ़ दार्शनिक हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा के कृपापात्र हैं। शर्मा जी के मित्र के ये सुयोग्य पुत्र हैं। इनके यहाँ मुझे 'साहित्यदर्पण' ('विमला टीका' सहित) मिल गया।

घर ले जा कर पढ़ा। टीका से ग्रन्थ एकदम खुल गया है। संस्कृत ग्रन्थों पर ऐसी टीकाएँ चाहिए। मन खिल उठा; परन्तु एक चीज मुझे अच्छी न लगी। 'विमला' में संस्कृत के पुराने आचार्यों के मतों का जहाँ जगह-जगह खण्डन है, वहाँ भाषा का संयत प्रयोग नहीं है। इस तरह झकझोर दिया है, जैसे कोई मास्टर छोटे बच्चों को डाँट-डपट रहा हो। महाकवि माघ के लिए तो बहुत ही हलके शब्दों का प्रयोग है। खण्डन स्वर्गीय साहित्यकारों की कृतियों का कीजिए, पर उन के लिए शब्द-प्रयोग तो शिष्टजनोचित

चाहिए। मैं इसी बात पर झल्ला उठा और सम्पूर्ण ग्रन्थ के वैसे अंशों पर एक लेख लिख कर 'माधुरी' में छपने भेजा। लेख में मैं ने बदला चुकाया था। शास्त्री जी के प्रति भी मैंने वैसे ही शब्दों का प्रयोग किया था। लेख वापस आया और मिश्र जी का एक लम्बा पत्र भी आया। लिखा था--"एक लेख में विषय की स्पष्टता असम्भव है। यदि आप विस्तार से लेखमाला के रूप में लिखें गे, तो हम 'माधुरी' में सहर्ष छापें गे। परन्तु एक निवेदन है कि भाषा संयत रखिए। शिष्ट भाषा में विषय की तर्क-युक्त आलोचना हो गी, तो प्रभावोत्पादन करे गी।"

मिश्र जी की सलाह मुझे बहुत अच्छी लगी। भाषा कैसी अच्छी समझी जाती है, यह मुझे 'प्रेमी' जी से मालूम हुआ था और बड़े लोगों के किसी ग्रन्थ की आलोचना करते समय भाषा कैसी रखनी चाहिए, यह मिश्र जी के इस पत्र से समझा। पुराने साहित्यिकों के प्रति वैसे शब्दों का प्रयोग देख कर मैं शास्त्री जी से चिढ़ा था; पर उस चिढ़ में यह भूल गया कि शास्त्री जी भी तो मुझ से बड़े हैं। मिश्र जी ने मुझे यह बात समझाई। इस के लिए उनके प्रति मेरा आदर बढ़ गया। सम्पादक का काम किया। शास्त्री जी ने मिश्र जी को उस विवाद में जो झिड़कियाँ बताई थीं, मैं भूला न था। उस से मिश्र जी की इस सम्मति का मूल्य और भी बढ़ गया।

कुछ ही दिनों में गुरुकुल वालों से मेरी अनबन धार्मिक

मत-भेद के कारण हो गई और मैं नौकरी छोड़ बीकानेर चला गया। वहाँ सेठ भैरोंदान सेठिया की जैन-संस्थाओं में विद्यालय भी चलता था। उसी में अध्यापक हो कर चला गया। वहीं से 'साहित्य दर्पण' की 'विमला टीका' शीर्षक लेखमाला शुरू की, जो दस महीने तक बराबर, माधुरी में छपती रही। इसी लेखमाला के कारण विद्वानों का ध्यान मेरी ओर गया। पं० शालग्राम शास्त्री आचार्य द्विवेदी के भी घनिष्ठ मित्रों में थे; पर इस में सन्देह नहीं कि द्विवेदी जी का मेरी ओर आकर्षण इसी लेखमाला के कारण हुआ; यद्यपि उन्हों ने ऐसा प्रकट नहीं किया। इस लेखमाला के उत्तर में दो-तीन लेख शास्त्री जी के भी, 'माधुरी' में छपे थे, जिन का उत्तर फिर मैं ने दो-तीन लेखों में दिया था। यह बात सन् १९२८-२९ की है। सन् १९३० में द्विवेदी जी ने कहीं से मेरा पता-ठिकाना जान कर पहला कार्ड भेजा था, प्रोत्साहन तथा आशीर्वाद दिया था।

इस लेखमाला के बाद एक दूसरी लेखमाला भी मैं ने लिखी छपाई—'विहारी सतसई और उसके टीकाकार'। इस का मुख्य लक्ष्य पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा उद्भावित ('वि० स०' का) सुप्रसिद्ध 'संजीवन भाष्य' था। यह लेखमाला पहले 'माधुरी' में निकली—दो-तीन लेख निकले; इसके बाद तीन-चार लेख 'गंगा' मासिक पत्रिका में निकले; पर पूरी न छप पाई। बीच में ही छपना बन्द कर दिया मैं ने। यह सब क्यों हुआ, अभी आगे मालूम हो जाए गा। इस लेखमाला का भी विद्व-

ज्जनों पर वैसा ही प्रभाव पड़ा, जैसा कि उस (पहली) लेखमाला का पड़ा था। 'द्विबद्धं सुबद्धं भवति' प्रसिद्ध है। तब से फिर मुझे लोग भूले नहीं।

यों मेरी साहित्यिक प्रतिष्ठा इन लेखमालाओं से खूब बढ़ी; परन्तु एक बड़ा घाटा भी हुआ! कुछ बड़े लोग मुझसे रुष्ट भी हो गए और यह रोष एक मण्डली में भीतर ही भीतर फैल गया! पहली लेखमाला से शास्त्री जी के साथ उन के कुछ घनिष्ठ और लब्धप्रतिष्ठ मित्र भी मुझ से रुष्ट हो गए थे, जिन में मुख्य थे---पं० पद्मसिंह शर्मा!

शर्मा जी के प्रति मेरे हृदय में अत्यधिक सम्मान था, अब भी वैसा ही है। उनके 'संजीवन भाष्य' से ही मैं ने समझा था कि व्रजभाषा-काव्य में भी वैसी खूबी है। शर्मा जी ही प्रधान साहित्य-महारथियों में प्रथम थे, जिन के प्रत्यक्ष दर्शन मैं ने कनखल में ही किए, जब गुरुकुल-काँगड़ी में काम करता था। वे 'सुधा' के विशेषांक के विशेष सम्पादक होकर लखनऊ (एक विशेषांक का सम्पादन करने) जा रहे थे और पं० ईश्वरचन्द्र जी से 'कादम्बरी' पर कोई लेख लिखवाने के लिए आए थे। वे अपने मित्रों के पुत्रों पर भी पुत्रवत् स्नेह रखते थे और यथाशक्य उन्हें आगे बढ़ाने का प्रयत्न करते रहते थे। इस तरह के उन के विशेष स्नेहभाजन जनों की एक मण्डली सी बन गई थी, जो अब भी चल रही है। उस मण्डली में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० श्रीराम शर्मा ('विशाल भारत' के 'शिकारी' सम्पादक), मेरे मित्र पं०

हरिदत्त शास्त्री एम० ए०, 'सप्ततीर्थ' पं० हरिशंकर शर्मा आदि प्रमुख हैं। शर्मा जी का स्नेह मेरे जैसे जनों पर भी रहता था, पर दूसरे दर्जे का। परन्तु ऐसा भी उन का स्नेह कम सौभाग्य की बात न थी। कनखल में ही दूसरे साहित्य-महारथी श्री रामदास गौड़ एम० ए० के दर्शन हुए, जब वे गुरुकुल काँगड़ी में विज्ञान-विभाग के अध्यक्ष होकर आए थे। इन दोनो महान् साहित्यकारों की सादगी, स्नेहशीलता तथा विद्वत्ता का प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा। गौड़ जी का तो प्रथम कोटि का स्नेह मुझे प्राप्त हुआ। ऐसे महान् साहित्यिक गुरुजनों के संस्मरण पृथक् विस्तार से लिखने का विचार है।

मुझे यदि यह मालूम होता कि 'विमला' की आलोचना से पं० पद्मसिंह शर्मा मुझ से कुछ रुष्ट हो जाएँ गे, तो कदाचित् मैं उस काम में हाथ ही न लगाता। कम से कम सोचता तो जरूर ही कि क्या करना चाहिए। उन का स्नेह मेरी दृष्टि में साधारण चीज न था। यह भी सम्भव है कि वे मुझ से रुष्ट न हुए हों, केवल अपने मित्र (पं० शालग्राम शास्त्री) के प्रति अपनी निष्ठा भर निबाही हो। परन्तु मुझे ऐसा लगा कि वे मुझ से नाराज हो गए हैं। बीकानेर उन का एकाध पत्र भी मुझे प्राप्त हुआ; पर कहीं कोई नाराजी का चिह्न न दिखाई दिया। कुछ दिन बाद बीकानेर छोड़ मैं पुनः हरिद्वार आ गया और एक स्कूल में काम करने लगा। तब यहाँ मुझे पता लगा कि शर्मा जी ने मेरी लेखमाला का जवाब दिलाने के लिए यहाँ एक विद्वान् को प्रेरित किया था। वे

चाहते थे और पं० शालग्राम शास्त्री भी चाहते थे कि लेख-माला के जवाब में कोई दूसरा ही लिखे, या जो कुछ लिखा जाए, वह किसी दूसरे के नाम से छपे। यह उन्हें उचित न जँचता था कि मेरे जैसे छोटे आदमी को जवाब शास्त्री जी स्वयं दें--'अनुहुंकुरुते घनध्वनिं नतु गोमायुरुतानि केसरी।' परन्तु शर्मा जी को इस काम में सफलता न मिली ! तब शास्त्री जी ने स्वयं ही वे दो-तीन लेख लिख-छपा कर मुझे गौरवान्वित किया !

यह सब जब मुझे मालूम हुआ, तो बुरा लगा। मन में आया, शर्मा जी को यह सब न करना था, मुझे ही पत्र लिख देना चाहिए था। उन के इस काम से मैं रुष्ट हो गया। उस समय मैं यह समझने में असमर्थ रहा कि सारस्वत प्रवाह को रोकना शर्मा जी ने कदाचित् उचित न समझा हो, मेरे ऊपर स्नेह भी तदवस्थ हो और अपने विद्वान् मित्र के प्रति कर्तव्य भी पूरा करना चाहा हो। दोनों बातें सम्भावित हैं। लड़का ही तो था, कुछ का कुछ समझ बैठा ! इसी रोष का परिणाम यह दूसरी लेखमाला थी। सब खुलासा न हो, इसलिए नाम रखा था--'विहारी-सतसई और उसके टीकाकार'। आलोचना भी व्यापक थी ; पर मुख्य लक्ष्य था वही 'संजीवन भाष्य।'

'माधुरी' में इस दूसरी लेखमाला के कई लेख छपने के बाद बृन्दावन-गुरुकुल के उत्सव पर जब शर्मा जी से भेंट हुई, तो वे उसी प्रम से मिले--मन जरा भी मैला नहीं। उस

समय कविरत्न पं० हरिशंकर शर्मा भी साथ थे। उन प्रकाशित लेखों के कई अंशों पर उन्हों ने कुछ चर्चा भी की और कहा कि 'आपने कहीं-कहीं अनुचित डंक मारा है।' मैं ने कुछ अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा, तो बोले 'अब लेखमाला पूरी हो लेने दीजिए।'

परन्तु स्नेहपूर्ण व्यवहार उन का ज्यों का त्यों रहा। इसी समय शर्मा जी ने मुझे चाय पीना सिखा दिया! अब तक प्रातः नित्य उनका तर्पण उन्हीं के इस पेय से कर रहा हूँ—शायद आगे भी यह नित्य कर्म न छूटे। वृन्दावन से फिर साथ-साथ आगरे तक यात्रा की थी। मथुरा में पं० क्षेत्रपाल शर्मा से उन्हों ने हम सबका परिचय कराया। पं० क्षेत्रपाल शर्मा बहुत पुराने साहित्यिक थे, फिर व्यापार में पड़ गए थे। तो भी, सरसता न छूटी थी। शर्मा जी 'सैयाँ जी' की दूकान पर बैठ कर कविता सुनने लगे, तो गाड़ी का समय ही चूक गया। आगरे वे एक ग्रन्थ लिखने जा रहे थे, प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' लिखवा रही थी। सोचा था कि आगरे में कविरत्न पं० हरिशंकर शर्मा के यहाँ एकान्त में ठहर कर ग्रन्थ लिखें गे; पर वहाँ एक ऐसी दुर्घटना सामने आ गई कि सब मनोरथ धूमिल पड़ गए। हम लोग आगरे पहुँचे ही थे कि कविरत्न जी एक साइकिल-सवार की हवा से ही धड़ाम से गिर पड़े और भारी चोट खा गए। पीड़ा के मारे बड़े जोर से चिल्लाया करते थे! वैसी अवस्था में शर्मा जी क्या ग्रन्थ लिखते! 'कविरत्न' जी आखर तैमूर बन ही गए।

सो, इन लेखमालाओं से मुझे प्रतिष्ठा का सुख तो मिला ; किन्तु अपने बुजुर्गों का स्नेह कुछ कम होने की सम्भावना से दु:ख भी हुआ। पर यह दूसरी लेखमाला पूरी न छप पाई। 'माधुरी' में कई लेख निकले। इसी समय पं० कृष्ण विहारी मिश्र इस पत्रिका से अलग हो गए। तब मैं ने अपनी लेखमाला, एक रजिस्टरी कार्ड भेजकर, वापस मँगा ली। श्री प्रेमचन्द जी ने 'माधुरी' में ही छपते रहने के लिए लिखा ; पर मैं न माना। लेखमाला वापस मँगा कर 'गंगा' को भेज दी। 'गंगा' में कई लेख निकले ; पर इसी बीच शर्मा जी का स्वर्गवास हो गया। वज्रपात हुआ ! मैंने तार भेज कर 'गंगा' में आगे उस लेखमाला का कोई भी अंश न छापने का आदेश दिया। और, श्रद्धांजलि के रूप में एक लेख लिखा, जो 'गंगा में' ही छपने भेजा। बहुत लोगों ने आग्रह किया कि यह लेखमाला जारी रहनी चाहिए, अच्छी चीज है ; पर मैं मान न सका। जब सुननेवाला ही न रहा, तो बात कहने का फल क्या !

लेखमाला वापस मँगा कर फाड़ दी और इसके दो तीन मास बाद——

'गङ्गा' को नोटिस देना पड़ा

यह घटना कदाचित् १९३१ की है; पर प्रसंगवश यहीं बतला दी गई। लेखमाला पर जो पारिश्रमिक ठहरा था, 'गङ्गा' से अब तक न आया था। नाममात्र का पारिश्रमिक था, एक

रुपया प्रति पृष्ठ, कुल इकतीस रुपए बैठते थे। पाण्डुलिपि भेजने से पहले ठहर गया था। सम्पादक जी ने लिखा था कि 'गङ्गा' की स्थिति 'माधुरी' जैसी नहीं है—एक रुपया प्रति पृष्ठ दे सकें गे। मैं ने स्वीकार कर लिया था। उस समय पारिश्रमिक की दर ऐसी ही कुछ थी ; फिर इतनी लम्बी लेखमाला ! मुझे पैसे की परवाह भी न थी। छोटा परिवार था। खाने योग्य पैसे अध्यापन-वृति स आ ही जाते थे। परन्तु ठहराया हुआ पारिश्रमिक जब चार मास तक न आया और 'सम्पादक जी दौरे पर गए हैं' इस तरह की बातें सहायक सम्पादक जी लिखने लगे, तब मुझे गुस्सा आ गया ! और सब काम चल रहे हैं और इस जरा से काम के लिए ये बातें ! मैं ने रजिस्टरी नोटिस दे दिया। लिख दिया कि "एक सप्ताह के भीतर पारिश्रमिक न आ गया, तो अदालत में दावा कर दिया जाए गा और अदालती खर्च की जिम्मेवारी भी आप पर हो गी।" नोटिस पहुँचते ही पूरा पारिश्रमिक तार–मनीआर्डर से आ गया। पीछे-पीछे सम्पादक जी का पत्र भी आया कि आप को ऐसा उतावला मैं न समझता था। 'गङ्गा' का मेरे पास आना बन्द हो गया ; पर जब इस का महत्त्वपूर्ण विशेषाङ्क—'गङ्गाङ्क' निकला, तो मेरे पास 'सम्मत्यर्थ' भेजा गया। विशेषाङ्क बहुत अच्छी सम्मति के योग्य था ही। एक कार्ड पर सम्मति लिख भेजी और 'गङ्गा' फिर आने लगी। परन्तु फिर कभी मैं ने 'गङ्गा' से पारिश्रमिक न ठहराया, न लिया।

हाँ, प्रयाग की 'सरस्वती' से भी पारिश्रमिक के ही प्रश्न पर

उन दिनों मेरा झगड़ा हो गया था। बहुत दिन तक 'सरस्वती' का आना बन्द रहा और फिर जारी हुआ, फिर बन्द हुआ। ये सब पत्र–पत्रिकाओं के संस्मरण यहाँ दे कर इधर-उधर भटकना ठीक नहीं है। इतना समझ लीजिए कि किस तरह मैं लोगों को नाराज करता रहा!

इस 'प्रथम उन्मेष' की एक घटना यह है कि—

मैं 'साहित्य-रत्न' बनने चला था!

बात यह हुई कि बीकानेर में मेरे उस प्रथम पुत्र का शरीरान्त हो गया, जिसे गोद में ले कर हम लोग 'सुधा' तथा 'चाँद' का अमृत पीने भटकते रहे! इस घटना का ऐसा मर्मान्तिक प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा कि बीकानेर की वह अच्छी नौकरी छोड़ कर कितने ही दिनों तक इधर-उधर यों ही भटकता रहा! गृहिणी को उस के पितृ-गृह छोड़ आया था; यह ख्याल कर के कि वहाँ जी बहल जाए गा। मैं प्रयाग पहुँचा। यमुना के उस पार, एकान्त स्थान में, 'हिन्दी-विद्यापीठ' जा टिका। पैसे पास थे। आटा-दाल मोल मँगा लेता था, लकड़ी-ईन्धन इधर-उधर से इकट्ठा कर लेता था और अपने हाथों रोटी बना-खा लेता था। उस समय विद्यापीठ के आचार्य थे मेरे मित्र श्री रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर'। छात्र परीक्षाओं के फार्म भर रहे थे। कुछ छात्र 'उत्तमा परीक्षा' के भी थे। वे मुझ से भी मदद लिया करते थे। मैं ने सोचा, यों ग्रन्थों का पारायण हो ही रहा है, तो मैं भी 'उत्तमा' में क्यों न बैठ

जाऊँ ! मन उलझ-बहल जाए गा, यह बड़ा लाभ । उन दिनों इस परीक्षा में शास्त्री-आचार्य आदि न बैठ सकते थे ; क्योंकि इन परीक्षाओं में हिन्दी का प्रवेश ही न था। परन्तु मैं ने मध्यमा ('विशारद') परीक्षा बहुत पहले पास कर रखी थी। तब 'उत्तमा' में बहुत कम परीक्षार्थी बैठते थे, और केन्द्र केवल एक था –प्रयाग । 'समीर' जी से सलाह ली । उन्हों ने भी कहा, ठीक है ; फार्म भर दीजिए ।

'उत्तमा' का फार्म भर दिया। शुल्क भेज दिया। ग्रन्थ देख गया । परन्तु परीक्षा होने के कोई डेढ़ मास पहले एक दिन 'सम्मेलन'-कार्यालय से वापस आ कर 'समीर' जी ने कहा— "आप के मौखिक परीक्षक कौन नियत हुए हैं, जानते हैं ?" मेरी जिज्ञासा पर उन्हों ने कहा–'श्री आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव उत्तमा के मौखिक परीक्षक नियत हुए हैं ।' 'समीर' के इस झोंके ने मुझे उड़ा कर परीक्षा से बहुत दूर ले जा कर पटक दिया ! 'मेरे परीक्षक श्रीवास्तव जी ! हद हो गई !' यदि कापियाँ उन के पास जातीं, तो भी कदाचित् सह लेता। परन्तु उन के सामने कैसे खड़ा होऊँ गा ! यह सोच कर 'सम्मेलन' पर जल-भुन गया। कार्यालय पहुँचा और देखने के लिए अपना फार्म माँगा। जान-पहचान थी ही । फार्म हाथ में आते ही मैं ने फाड़-फूड़ कर उस के टुकड़े-टुकड़े कर दिए और वे टुकड़े फेंक दिए। कार्यालय के कर्मचारी यह सब देखते रहे ! 'तो क्या आप परीक्षा न दें गे ? शुल्क वापस न मिले गा ।' इस के उत्तर में मैं ने कहा—'शुल्क की

चिन्ता नहीं, न मिले।' मैं वापस विद्यापीठ पहुँचा, 'समीर' जी से सब बतला दिया और कई समाचार-पत्रों में भी छपा दिया कि 'उत्तमा' के परीक्षक श्री आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव जैसे लोग होते हैं, तब इस की क्या इज्जत रहे गी? बस, फिर मैं ने कभी भी 'साहित्यरत्न' बनने की इच्छा न की। विद्यापीठ से ही मैं ने पत्र-व्यवहार हरिद्वार के स्कूल में आने के लिए किया और पुनः इस रमणीय स्थान में आ गया। जब मैं इस स्कूल में आया, केवल छठे दर्जे तक यह था। इसी लिए वेतन बिलकुल कम था, ४०) रु० मासिक; जो प्रति वर्ष २।।) रु० की वृद्धि से कुल ६०) तक पहुँचना था। 'म्यूनि० ए० वी० स्कूल'। मुझे वेतन की चिन्ता न थी, हरिद्वार में रहने की इच्छा थी। सन् १९२९ में इस स्कूल में आया और ३० में स्थायी हुआ; परन्तु इसी समय 'सत्याग्रह' या 'सविनय अवज्ञा' आन्दोलन कांग्रेस ने छेड़ दिया। मैं भी कूद पड़ा, काम किया और सरकारी चेयरमैन मि० ह्यूम ने 'आस्तीन का साँप' तथा 'जोरदार कांग्रेस-वर्कर' के खिताब दे कर—

बर्खास्त कर दिया!

साथ ही वेतन भी उस मास का जब्त कर लिया! अब मैं खुल कर काम में लगा। साथ ही एक पुस्तक—

'रस और अलङ्कार'

इसी समय लिखी, जिस में आदि से अन्त तक, सब के सब

उदाहरण ऐसे गढ़ कर रखे, जो प्रचलित आन्दोलन को उद्वेलित करने वाले थे। यहाँ तक कि 'शृंगार' तथा 'बीभत्स' रस के उदाहरण भी राजनैतिक पुट के थे। यह पुस्तक 'हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय' (बंबई) में तुरन्त छपी और छपते ही बंबई-सरकार ने जब्त कर ली! फिर भी, ठहरा हुआ पारिश्रमिक मुझे 'प्रेमी' जी ने भेज दिया। तब 'साहित्य की उपक्रमणिका' नाम की पुस्तक लिख कर भेजी और 'प्रेमी' जी ने ही इसे भी प्रकाशित किया। 'रस और अलंकार' मैं ने—

महर्षि मालवीय जी को समर्पित किया था

जब इस पुस्तक की प्रति महर्षि को मैं ने भेंट की, तो पढ़ कर हँसते हुए बोले—"बड़ा तेज बधार लगाया है, मिर्चों का! जीरा आदि का बधार देते, तो अच्छा रहता।" मैं ने हाथ जोड़ कर कहा—"महाराज, भूतों को भगाने के लिये मिर्चों की ही धूनी ठीक रहती है।" महर्षि मुसकुराने लगे।

एक छात्र की आलोचना कर बैठा!

इस उन्मेष में मुझे अपने एक लेख पर काफी अफसोस रहा! 'वियोगी हरि' जी की 'वीर-सतसई' निकली थी। मैं वीर-रस का प्रेमी हूँ और उस समय वीर रस के जो दो मासिक पत्र निकलते थे—आगरे से 'वीर-संदेश' और दिल्ली से 'महारथी'—उन में बराबर कुछ न कुछ लिखा करता था; प्रेम से, कुछ भी उन से लिए बिना! 'वीर-सतसई' का

विषय मेरे लिए प्रिय था; पर कविता की दृष्टि से वह मुझे अच्छी चीज न जँची थी। हाँ, कुछ दोहे जरूर अच्छे लगे। इसी समय पं० चन्द्रबली पाण्डेय का एक आलोचनात्मक लेख 'सरस्वती' में छपा। 'वीर-सतसई' के एक दोहे को, न समझ सकने के कारण, पाण्डेय जी ने बहुत रद्दी ठहराया था। शीर्षक था—'वीर-सतसई का एक दोहा।' वस्तुतः इस सतसई के चार-छह सर्वोत्कृष्ट दोहों में वह एक था, जिसे पाण्डेय जी ने सब से रद्दी समझ लिया था! मुझे बुरा लगा और मैंने एक लेख में उस दोहे की खूबियाँ समझाई, 'सरस्वती' में ही छपने भेज दिया। लेख में पाण्डेय जी को, काव्य न समझ कर गलत-सलत लिख डालने के कारण, कुछ डाँट बताई थी। मेरा यह लेख छपने के बाद 'सरस्वती'-सम्पादक (पं० देवीदत्त शुक्ल) से मालूम हुआ कि उक्त पांडेय जी तो एक छात्र हैं—हिन्दू विश्वविद्यालय में एम० ए० में पढ़ रहे हैं। मुझे यह जान कर बहुत दुःख हुआ। मन में आया कि यह होनहार छात्र कहीं हतोत्साह न हो जाए! मैं ने कभी भी अपने से छोटों को कोई कड़ा जवाब साहित्य में नहीं दिया है, केवल इस लेख को छोड़। सो, यह भी अनजाने गलती हुई। मैं ने स्वर्गीय साहित्यकारों पर भी कभी कोई कड़ी आलोचना नहीं की है और वर्तमान बुजुर्गों को भी बचा कर चला हूँ—कुछ अपवाद हैं पं० शालग्राम शास्त्री, पं० पद्म सिंह शर्मा, सेठ कन्हैया लाल पोद्दार और बाबू गुलाब राय एम० ए०। इनकी कृतियों की कड़ी आलोचनाएँ मैं ने की हैं;

पर विशेष कारण से। दो के सम्बन्ध में कारणोल्लेख हो चुका है, शेष दो के सम्बन्ध में आगे बताया जाए गा, जब प्रसंग आए गा।

उपसंहार

इस तरह यह प्रथम उन्मेष गया। सन् १९३० में फिर मैं आगरे चला गया था, जहाँ पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल अपने प्रान्त में सबसे तेज, आन्दोलन चला रहे थे। पालीवाल, उस समय दूसरे 'सरदार पटेल' हो रहे थे। आपने भी 'नारखी' में कर-बन्दी आन्दोलन शुरू कर दिया था। उन्हीं के साथ मैं भी जा जुटा था।

पालीवाल जी प्रान्त में सब से गरम योद्धा थे। उन के सम्बन्ध में मेरा एक दोहा है, जो 'तरंगिणी' में छपा था—

देखी तो मैं गजब की, बिजुरी पालीवाल !
होत गरम अति छनक में, जासों नैनीताल !

नैनीताल उस समय प्रान्तीय अंग्रेजी-शासन की ग्रीष्मकालीन राजधानी थी।

द्वितीय उन्मेष

१९३१-४०

स्वाद बदलने के लिए सन् ३०—३१ की कुछ मजेदार घटनाएँ लीजिए, जिन का सम्बन्ध साहित्य से तो नहीं, पर इस साहित्यिक से सीधा है। इन घटनाओं में एक लखनऊ-स्टेशन की है, जहाँ मुझे—

एक बहुरूपिए ने तंग कर दिया था !

किस्सा यों है। सन् १९३१ का 'स्वातंत्र्य-दिवस' आनेवाला था। उस समय 'सरकार' ने हमारी 'स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा' भी जब्त कर ली थी, जो कुछ दिन पहले अपनी रावी नदी के तट पर (लाहौर में) हमने की थी और जिसे 'स्वतंत्रता-दिवस' पर सामूहिक रूप से दुहराना था। प्रान्तीय कांग्रेस (लखनऊ) को उक्त प्रतिज्ञा की कुछ छपी हुई प्रतियों की जरूरत थी और पालीवाल के 'सैनिक प्रेस' के अतिरिक्त अन्य कहीं छपना कठिन था। पालीवाल जी अपनी चार मास की सजा काट कर आ गए थे और बड़ी चतुराई से आन्दोलन का संचालन कर रहे थे। उस समय नजरबन्दी की बात न थी, दो-चार मास की जेल की सजा होती थी। लोग छूट कर आते थे, फिर जाते थे; यही तरीका था। 'खूब काम करो' मुख्य बात थी।

पालीवाल जी ने छिप-छिपा कर प्रतिज्ञा की कोई पाँच सौ

प्रतियाँ छपवा डालीं। अब इन्हें लेकर लखनऊ कौन जाए! मैं भाई महेन्द्र जी के घर में नीचे के एक कमरे में रहता था। किराया वे कुछ न लेते थे। जो कुछ पास था, खा चुका था। कुछ कर्ज भी हो गया था। चि० मधुसूदन उस समय दो-ढाई वर्ष का था और चि० सावित्री अपनी मा के पेट में थी। प्रसव-प्रबन्ध के लिए चिन्ता थी। एक काम मिल गया। आगरे के 'प्रकाशक' 'गया प्रसाद एंड सन्स' के यहाँ से भाई महेंद्र के द्वारा एक पुस्तक लिख देने के लिए फर्माइश आई। रायल्टी १५% ठहरी और उसमें पेशगी मैं ने कुल ५०) रु० मँगा लिए, जो तुरन्त आ गए। मैं 'काव्य-प्रवेशिका' लिखने की तयारी में था कि पालीवाल जी ने बुला कर कहा—"वाजपेयी जी, आपको लखनऊ जाना हो गा। 'स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा' प्रान्तीय कार्यालय में अवश्य पहुँचाना है। जोखिम का काम है। मामूली आदमी से हो नहीं सकता।" नेता की आज्ञा थी। स्वीकार की। फिर उन्हों ने समझाया—"देखिए, अमीनुद्दौला पार्क में प्रान्तीय कांग्रेस का दफ्तर है। वहाँ जा कर श्री मोहन लाल सक्सेना को ही बंडल दीजिए गा, और किसी को नहीं। वे मंत्री हैं।"

तब पालीवाल जी ने लखनऊ जाने-आने का रेल-भाड़ा दिया और समझा दिया कि खद्दर के कपड़े मत पहन जाइए गा। प्रतिज्ञा-पत्रों का बँधा हुआ बंडल मैं ने लिया और कपड़े में लपेट कर तकिया की तरह बना लिया। घर आ कर खूब अच्छी तरह हिफाजत से बिस्तर में बांध लिया। गृहिणी को

वे ५०) रु० दे दिए और मैं लखनऊ चल पड़ा। लखनऊ का सब काम कर के मैं स्टेशन पर आया, गाड़ी की प्रतीक्षा में था, टिकट मिलने ही को थे कि एक सज्जन बेंत हिलाते हुए मेरी ओर आते दिखाई दिए। धोती, खाकी कमीज और सिर पर दुपल्ली टोपी। पुलिस का सिपाही मैं ने समझा। मेरे पास ही आ कर आप बोले——

"चलिए, आप को कोतवाल साहब बुला रहे हैं।" मैं ने समझा कि कुछ भेद खुल गया! बुरे मौके गिरफ्तार हुआ! प्रसव-काल निकल जाता, तो ठीक रहता। पर अपना बस क्या था! सोचा कि पूछूं, बात क्या है। पूछा भी। उसने कहा——"मुझे कुछ पता नहीं, आप जल्दी चलिए। न चलना हो, तो वैसा कहिए।" उस समय प्रत्येक सिपाही बादशाह था! झगड़ा बढ़ाना वहाँ ठीक न समझा और चलने के लिए उठ खड़ा हुआ। त्यों ही उसने झुक कर बड़े अदब से सलाम किया "जय हो महाराज!" अब दिमाग हलका हुआ। एक इकन्नी निकाल कर उसके सामने की, तो कहने लगा——"हुजूर, कितनी मुसीबत से बच गये और एक इकन्नी!" किसी तरह आफत टली!

'दही-बड़े' की बात

एक दिन 'टाउन हाल' के सामने बहुत बड़ी सभा "भगत-सिंह-दिवस" मनाने के लिए जमी। पुलिसवाले रिपोर्ट लेने आते थे, तो उन की रक्षा के लिए एक पूरा सशस्त्र दस्ता सुसज्जित

रूप में साथ आता था। सभा में खूब व्याख्यान हुए। मैं भी बोला, वरन बोल ही रहा था कि एक जोर का धड़ाका हुआ ! भगदड़ मच गई। पुलिसवालों ने कई भागनेवाले कांग्रेसियों को वहीं पकड़ लिया। सभा इसी भगदड़ में विसर्जित हो गई। पकड़े हुए व्यक्ति हवालात में बन्द कर दिए गए। बाद में जाँच-पड़ताल हुई, तो पता लगा कि वहाँ पक्के फर्श पर किसी ने पटाखा रख दिया था, जो दब कर फूट गया था ! इस जाँच के बाद वे सब 'क्रान्तिकारी' छोड़ दिए गए, जो पकड़ लिए गए थे ! इस घटना के वर्णन में एक कविता मैं ने उसी समय लिखी, जो 'सैनिक' में छपी थी। वह यों है—

उरद की दारि दरि बीबी ने बनाए बरे,
दही में सराए तौ कठौता भूरि भरि गो !
भए पेट-भेंट, मैं ने दाबि-दाबि भरे निरे,
गरे लौं गरीब पेट मसक सो भरि गो !
हाय अधरातक अचरजु महान भयो,
उमड़ि—घुमड़ि पौन भड़ दै निकरि गो !
काहू ने रपोट करी, आयो कोतवाल धाय,
पकरि कै मोहिं कह्यो—बम्म कितै फटि गो ?

वह समय ही ऐसा था ! फिर 'भगतसिंह दिवस' !

फिर हरिद्वार वापस

इसी समय 'गान्धी इर्विन - पैक्ट' हुआ, जिसमें एक शर्त यह भी थी कि जिन लोगों को आन्दोलन में भाग लेने के कारण

सरकारी नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया है, उन्हें वापस फिर (नौकरी में) ले लिया जाए गा। इस सुविधा का फल मुझे भी मिला। मैं पुनः हरिद्वार आया। श्रीमती जी अब चि० सावित्री को गोद में लिए थीं। हरिद्वार आकर मैं ने अपनी नौकरी से बचा हुआ समय साहित्य-सेवा में उतना न लगा कर समाज-सुधार के कामों में लगाना शुरू कर दिया। तीर्थ-सुधार के कुछ ऐसे काम किए कि तीर्थ-पुरोहित (पंडे) नाराज हो गए। हरिजन-उद्धार के लिए भी कुछ किया। आगे चल कर 'हरिजन-सेवक संघ' की जिला कमेटी का दो वर्ष तक मंत्री भी रहा—जिस से कि यहाँ के 'अतिसनातनी' लोग अति नाराज हो गए। फिर सन् १९३८ में कुम्भ के महान् मेले पर तो एक बहुत बड़ा काम मैं ने अपने सिर ले लिया, जिधर किसी ने कभी ध्यान ही न दिया था!

साधुओं में एक फिरका 'नागा' लोगों का भी है। नागा साधुओं के 'निरंजनी' 'निर्वाणी' आदि अखाड़े करोड़ों की सम्पत्ति रखते हैं। इनके अखाड़ों का प्रबन्ध पंचायती (जन-तंत्रात्मक) है, बड़ा सुन्दर। यह जनतंत्र-प्रणाली इन की बहुत पुरानी है, अंग्रेजों से सीखी हुई नहीं है। अखाड़ों का प्रबन्ध करने के लिए जो कोठारी-सेक्रेटरी आदि ('महन्त') पंचायत द्वारा नियुक्त होते हैं, उन्हें दस-दस या पन्द्रह-पन्द्रह रुपए मासिक जेब-खर्च के लिए मिलता है—जमा-खर्च के काम लाखों के करते हैं। कोई चुरा-छिपा कर बचा ले, यह और बात है। परन्तु शिकायत होने पर पंच गुप्त जाँच कराता है और शिकायत

सही होने पर अपराधी बुरी तरह निकाल दिया जाता है। यदि टट्टी फिर कर अपराधी आया है, तो निर्वासन की आज्ञा होते ही वह अखाड़े के बाहर जाकर हाथ धोए गा ! फिर उसे अपने 'आसन' पर भी नहीं जाने दिया जाता। मेरे सामने इस तरह के कई निर्वासन हुए हैं। नागा साधुओं में कितने ही शिक्षित भी हैं। आजाद साधुओं की अपेक्षा इन में कुप्रवृत्तियाँ भी कम हैं। परन्तु इन की एक प्रवृत्ति मुझे बहुत भद्दी लगी कि कुम्भ के मेले पर ये लोग कपड़े उतार कर एकदम 'दिगम्बर' हो जाते हैं और जमात के रूप में गाजे-बाजे के साथ स्नान करने जाते हैं। एक लँगोटी भी लगाए रहें, तो भी ठीक !

सन् १९३८ का हरिद्वार-कुम्भ आने को था। मैं ने नागा साधुओं की इस प्रथा का विरोध करने का निश्चय किया। चर्चा शुरू की। सनातनी नेता पं० गणेशदत्त गोस्वामी से जिक्र किया, तो वे कन्धा डाल गए ! बोले, "यह सब ठीक तो नहीं, पर बहुत पुरानी प्रथा है। मिटाना भी ठीक नहीं।"

आर्यसमाजियों से बात की, तो उन्हों ने कहा—"भाई, यह तो सनातनी लोगों का अपना घरेलू काम है। हम लोग क्या करें !"

यही नहीं, आगे जब मैं ने आन्दोलन चला कर इस प्रथा का घनघोर विरोध किया, तो आर्यसमाज के पुराने नेता और हमारे हिन्दी-जगत् के महारथी पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने नागा साधुओं का तथा उन की इस प्रथा का समर्थन किया, जिस से

हमारे आन्दोलन को धक्का लगा और उन्हें बल मिला !

मेरे इस आन्दोलन के समर्थन में राजर्षि टंडन तथा पं० जवाहर लाल नेहरू आदि नेताओं ने पत्र लिख कर भेजे थे, जिन्हें मैं ने प्रकाशित करवा दिया था। इन पत्रों से मेरे काम को बल मिला। इतने जोर का आन्दोलन हुआ कि नागा साधुओं में नित्य ही इस पर विचार-विमर्श होने लगा। परन्तु अधिक संख्या उन की थी, जो किसी भी तरह अपनी यह प्रथा छोड़ने के पक्ष में न थे। सैनिक-प्रवृत्ति नागा साधुओं में आदि से ही है। तलवारें और भाले चमचमा रहे थे।

इधर मैं ने सत्याग्रह करने की घोषणा कर दी थी। जनता में तरह-तरह की चर्चाएँ फैल रही थीं। कांग्रेसी भाई बिलकुल तटस्थ थे; पर टंडन-नेहरू आदि के पत्र प्रकाशित हो जाने से यह कहा जा रहा था कि कांग्रेस यह सब करा रही है और लखनऊ से पाँच या दस हजार स्वयंसेवक सत्याग्रह करने आनेवाले हैं ! प्रान्त में कांग्रेसी मंत्रिमंडल था और उस समय कुछ डर भी पैदा हो रहा था। यही कारण है कि मेरी जान बची रही। फिर भी, मुझे बहुत सावधान रहना पड़ता था।

जैसे-जैसे मेला समीप आता जाता था, तीर्थ-पुरोहितों में बेचैनी फैल रही थी ! मेला-आफिसर दफा १४४ लगाने की सोच रहे थे। नित्य ही 'भले' लोग मेरे पास आते थे और मेले पर सत्याग्रह न करने को कहते थे। नागा साधुओं में एक अच्छे सन्त हैं—स्वामी चन्द्रशेखर गिरि जी। संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं, राष्ट्रीय प्रवृत्ति के हैं, बहुत कुछ काम भी किया

है। किसी समय हम दोनों साथ-साथ रहे-पढ़े हैं। वे एक दिन आए और बोले—"मेरी बात आप मानिए। मेले में कोई सत्याग्रह जैसा काम न कीजिए। मेला तो खराब हो ही जाए गा, खून-खराबी भी हो सकती है। इतनी प्ररूढ़ प्रथाएँ इस तरह नहीं उड़ाई जा सकती हैं। वैसे कुछ लोग आपकी बात पर सोच-विचार कर रहे हैं।"

स्वामी जी की बात मैं ने मान ली। अखबारों में सूचना छपा दी कि मेले में सत्याग्रह न किया जाए गा, न और किसी तरह से विरोध-प्रदर्शन हो गा। इस सूचना से वातावरण एकदम शान्त हो गया। मैं ने भी सुख की साँस ली। तरह-तरह की कल्पनाएँ प्रतिक्षण उठा करती थीं!

मेला समाप्त हुआ। हरिद्वार म्यूनि० बोर्ड में अबतक चेयरमैन सरकारी आफिसर (रुड़की के सब डिवीजनल आफिसर) हुआ करते थे। कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने निर्णय दिया कि बोर्ड में गैर-सरकारी चेयरमैन हो। कांग्रेस ने एक तीर्थ-पुरोहित (सरदार पं० रामरक्खा शर्मा) को टिकट दिया और वे बोर्ड के चेयरमैन हुए। सरदार साहब ने पद सँभालते ही एक 'परिपत्र' छपा कर प्रकट किया कि हम रिश्वत आदि बुराइयाँ हटाएँ गे।

मैं ने सोचा कि अपना मंत्रिमंडल और अपना बोर्ड, अपना चेयरमैन; बड़ा अच्छा अवसर है बुराइयाँ दूर करने के लिए। मैं ने मदद पहुँचाने का निश्चय किया। 'क्रान्ति' नाम का एक छोटा-सा स्थानीय साप्ताहिक पत्र निकलवाया। मैं

तो बोर्ड के हाई स्कूल में अध्यापक था ; प्रत्यक्ष कुछ कर न सकता था; इस लिए नाम के संपादक बने पं० कल्याणदत्त शर्मा और काम सब मेरे जिम्मे। 'क्रान्ति' के द्वारा रिश्वतखोरी के विरुद्ध धुँआधार आन्दोलन मैं ने शुरू किया। रिश्वतखोर अधिकारी तथा मेंबर तिलमिला उठे। अनेक मेंबर चेयरमैन साहब की पार्टी के ही वैसे थे! चेयरमैन साहब ने मुझे बुला कर समझाया ; परन्तु छोड़े हुए तीर को मैं वापस न ले सका ! तब "डिस ओबीडिएंट" कर के मुझे बर्खास्त कर दिया गया !

कांग्रेसी-मंत्रिमंडल था, मैं ने अपील की। अपील नियमानुसार भेज दी गई। फिर मैं लखनऊ गया और सेक्रेटरिएट में श्री विजयलक्ष्मी पंडित से भेंट की। उस समय आप स्वायत्त-शासन की मिनिस्टर थीं और खेर साहब आपके पार्लमिंटरी सेक्रेटरी थे। दोनों के कमरे बराबर-बराबर थे, बीच में एक पर्दा पड़ा था। श्रीमती पंडित से मेरी बात-चीत यों हुई—

"कहिए, क्या बात है ?"

"मैं हरिद्वार म्यूनि० बोर्ड के हाई स्कूल में अध्यापक था। बोर्ड में साधुओं का तथा तीर्थ-पुरोहितों का जोर है। मैं ने कुछ समाज-सुधार के काम वहाँ किए ; इस से वे लोग नाराज हो गए और मुझे नौकरी से अलग कर दिया।"

—"तो आप समाज-सुधार के काम करते हैं, या बच्चों को पढ़ाते हैं ?"

"बच्चों को तो पढ़ाता ही हूँ और इस काम में ९९%

सफलता परीक्षा-परिणाम बता देते हैं ; पर अपने बचे हुए समय का उपयोग मैं ट्यूशन आदि में न कर के कुछ समाज-सुधार के कामों में लगाता हूँ ।"

"आप समाज-सुधार के काम करते ही क्यों हैं ? किस ने कहा है ?"

"आप ही लोग वैसा कहते हैं कि अध्यापकों को समाज-सुधार के कामों में मदद करनी चाहिए ।"

"मैं ने कब वैसा कहा है ?"

"आप ने तो नहीं, पर पं० जवाहर लाल नेहरू ने तो सैकड़ों वार वैसा कहा है ।"

"तो फिर उन्हीं के पास जाइए ।"

"उनके ही पास पहुँचता, यदि वे प्रान्त के स्वायत्त-शासन-मंत्री होते ।"

"अच्छा, तो कहिए, क्या काम आप ने समाज-सुधार के किए ?"

"हरिजन-अभ्युत्थान आदि के काम करता रहता हूँ और सबसे बड़ा काम पिछले हरिद्वार-कुम्भ मेले पर नागा साधुओं के बारे में आन्दोलन किया कि वे एकदम दिगम्बर हो कर न निकला करें, कमसे कम एक लँगोटी तो जरूर लगाए रहा करें ।"

"ऐसा आप ने क्या समझ कर किया ?"

"यह समझ कर कि हमारी नागरिक व्यवस्था के विपरीत वैसा प्रदर्शन पड़ता है और लोग उसे अच्छा नहीं समझते हैं ।"

"आप ने यह कैसे समझा कि नागा साधुओं के उस प्रदर्शन को लोग अच्छा नहीं समझते ?"

अब मैं जल-भुन गया। पं० जवाहर लाल नेहरू की बहन ने यह कहा! मैं ने आँखें तो नीचे कर लीं और अत्यन्त गम्भीरता से निवेदन किया—

"मैं ने पुरुष-वर्ग के तो सहस्रों व्यक्तियों से चर्चा की, सब ने इस से असंतोष प्रकट किया। टंडन जी ने तथा नेहरू जी ने भी वैसा ही कहा ; परन्तु मैं ने स्त्रियों से नहीं पूछा कि वे उसे कैसा समझती हैं ! हाँ, मेरी स्त्री तो वैसे प्रदर्शन को ठीक नहीं समझती है।"

इतना कह कर मैं ने आँखें ऊपर कीं, तो देखा कि श्रीमती पण्डित का गौरवर्ण वदन एकदम अरुण हो गया है और आँखों में भी वही रंग ! बोलीं—

"आप से मेरी कतई सहानुभूति नहीं है और आप को हर्गिज बहाल न किया जाए गा।"

अब और कुछ बोलना मैं ने बिलकुल ठीक न समझा। कुर्सी से उठा और हाथ जोड़कर 'नमस्ते' करता हुआ दरवाजे से बाहर चला आया।

उस समय टंडन जी बीमार थे। पुरी से जलवायु बदल कर तुरन्त वापस आये थे। लोग मिलने कम पाते थे। मेरा ध्यान उधर ही था। परन्तु शिमला-'सम्मेलन' में मैं एक मामले में उन्हें बहुत तंग कर चुका था—नाराज हो गये थे वे ! कई घंटे झमेले में लग गए थे, मेरी एक वैधानिक जिद के कारण।

पर, और जाता भी कहाँ ? गया, और सब हाल बताया, तो बहुत नाराज हुए ! बोले, तुम वहाँ इस तरह गए क्यों ? फिर अपने सेक्रेटरी से कहा—फोन पर खेर को बुलाओ। लठिया टेकते हुए आप फोन पर गए—

"हाँ, खेर हैं न !"

"जी, प्रणाम।"

"आप झांसी म्यूनि० बोर्ड को छोड़ आए, तब से उसकी क्या दशा हो रही है ! बहुत गड़बड़ है। और देखिए, हरिद्वार से पंडित किशोरीदास वाजपेयी का कोई केस आया है क्या ? फाइल आपने देखी ?"

"जी, फाइल देखी है। चेयरमैन, कमिश्नर तथा हमारे (गवर्नमेंट) सेक्रेटरी ने भी बुरा ही बुरा लिखा है।"

"वह तो लिखेंगे ही ; पर आप ने भी कुछ देखा ?"

"मैं तो कुछ सोच नहीं पाया हूँ ; पर वाजपेयी जी अभी थोड़ी देर पहले यहाँ आये थे और मिनिस्टर साहिबा से मिले थे। कुछ ऐसी बातें कीं, जिस से कि वे बहुत नाराज हो गई हैं।"

"वाजपेयी तो जैसे बुद्धिमान हैं, हमें पता है ; परन्तु विजयलक्ष्मी को आज क्या हो गया ? क्या भांग पी कर आई हैं ? जिस कुप्रथा के विरुद्ध आज तक कोई बोला न था, उस का इतना कड़ा विरोध जिस व्यक्ति ने किया, उसे शाबासी देनी चाहिए कि वैसी बातें करनीं चाहिए ? मैं समझता हूँ—विजयलक्ष्मी ने हँसी में वैसा कुछ कहा हो गा, जिसे संस्कृत के

पण्डित वाजपेयी न समझ सके हों गे और अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ कह दिया हो गा।

खैर, देखिए, इस मामले की छान-बीन करनी चाहिए; क्योंकि यह साधारण केस नहीं है, राष्ट्रीयता का सवाल है। सचाई जानकर ही कोई निर्णय देना चाहिए।"

"ठीक है, अच्छी बात है।"

फोन रख कर अपनी खाट पर आ बैठे, कुछ 'सम्मेलन' की बातें की और कहा कि "अब तुम हरिद्वार चले जाओ, यहाँ इस तरह बेकार घूमना-फिरना ठीक नहीं।"

मैं हरिद्वार आ गया। तब तक 'हाई कमांड' का हुक्म हो गया—"जरूरी काम निपटा कर कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को त्याग-पत्र दे देना चाहिए।"

इन जरूरी कामों में मेरा केस भी आ गया। कुछ ही दिनों में सरकारी आदेश बोर्ड को आ गया और चेयरमैन साहब ने एक पर्चा भेज कर मुझे सूचना दी कि सरकार ने आप की अपील मंजूर कर ली है; इस लिए अपना काम आकर सँभाल लीजिए।

मुझे दस महीने का वेतन देने के लिए भी बोर्ड को सरकारी आदेश था। अपील में दस महीने लग गए थे! सन् १९३० में बर्खास्त करते समय जो वेतन मेरा जब्त कर लिया गया था, उसे भी लौटा देने का आदेश था। इस तरह मुझे काफी पैसा मिल गया। इस पैसे से मैंने एक छोटा-सा प्रेस नीलाम में खरीद लिया, डेढ़-दो-सौ रुपए और मिलाने पड़े, कर्ज ले कर।

मैं ने कागज में प्रेस की मालकिन अपनी स्त्री को बना दिया ! अनेक झंझटों से बचने के लिए। आगे चल कर अनुभव हुआ कि अनुभव न हो, तो प्रेस प्रेत बन कर खाने लगता है ! बाहरी काम के अभाव में खुद ही कुछ लिख कर देने लगा और यों इस समय १—'द्वापर की राज्य क्रान्ति' तथा २—'लेखन-कला' ये दो पुस्तकें तयार हो गईं। 'द्वापर की राज्य-क्रान्ति' एक पौराणिक नाटक है, कल्पना-मधुर ; पहले 'सुदामा' नाम से 'गंगा पुस्तक-माला' में निकल चुका था। इस नाटक के सम्बन्ध में डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने 'पुस्तक-साहित्य' नाम के विवरण में यों लिखा है:—'द्वारकावासी कृष्ण को लेकर केवल एक कलात्मक रचना इस काल में मिलती है, वह है पं० किशोरीदास वाजपेयी कृत 'सुदामा'।' यही 'सुदामा' अपने प्रेस से 'द्वापर की राज्य क्रान्ति' नाम से मैं ने प्रकाशित कराया। 'सुदामा' नाम से वस्तु स्पष्ट न होती थी, इस लिए नाम नया दिया।

'लेखन कला' अपने विषय की हिन्दी में पहली ही पुस्तक प्रकाशित हुई। भाषा-परिष्कार इसका मुख्य विषय है। यद्यपि हिन्दी के नौनिहालों के लिए यह छोटी सी पुस्तक लिखी गई थी ; परन्तु बड़े-बड़े साहित्य-महारथियों ने इससे बहुत कुछ सीखा-समझा और यह उन्हों ने स्वतः स्वीकार कर के अपने औदार्य्य का परिचय दिया। आजकल के छोकरे 'डाक्टर' तो सब कुछ सीख-समझ कर डकार जाते हैं और क्लास में अपने छात्रों के सामने इस तरह उन्हीं बातों को प्रकट करते हैं, जैसे कि

इन्हों ने ही अनन्त मनन-तप कर के इन चीजों को ढूंढ निकाला हो!

"लेखन कला" ऐसी चीज निकली कि 'सम्मेलन'-परीक्षाओं के दुर्गम दुर्ग में भी पहुँच गई! इसके अतिरिक्त मेरी अन्य कोई पुस्तक आज तक 'सम्मेलन' की किसी भी परीक्षा में कभी नहीं चली। परन्तु जब दो बिल्लियों के 'मैं हूं' या म्याऊँ-म्याऊँ के झगड़े में एक बन्दर आ बैठा, तब 'लेखन-कला' को धक्का मिल गया! जो भी हो, प्रेस के आदमी खाली न बैठे रहें; इसलिए कुछ लिखना पड़ा और इस बेबसी के काम में 'लेखन कला' ऐसी चीज निकली कि जिसने हिन्दी के शब्द-विश्लेषण-क्षेत्र में एक युगान्तर उत्पन्न कर दिया। आगे 'लेखन कला' के प्रभाव से अनुप्राणित हो कर काशी के विद्वद्वर बाबू रामचन्द्र वर्मा ने 'अच्छी हिन्दी' लिखी, जिस के परिष्कार में 'अच्छी हिन्दी का नमूना' मैं ने लिखा। यह 'नमूना' हिन्दी-शब्दशास्त्र की बेजोड़ कृति है; क्योंकि हिंदी-प्रयोग के जटिल से जटिल विषय को सुलझाने का प्रयत्न इस में किया गया है। इस से पहले 'ब्रजभाषा का व्याकरण' निकल चुका था, सन् १९४३ में ही, जिस के भूमिका-भाग ने हिन्दी-व्याकरण की धारा ही बदल दी! परन्तु ये सब बातें तो अगले उन्मेष में कहने की हैं, प्रसंगवश कुछ कहा गया।

प्रेस बेंचना पड़ा!

इन झंझटों में प्रेस मुझे बेंच देना पड़ा—प्रेस के कामों में अनभिज्ञता, कर्मचारियों पर और काम पर देख-रेख न होने

से घाटे पर घाटा, अंग्रेजी सरकार द्वारा तंग करने की नियत का बार-बार प्रकट होना ! प्रेस पर पुलिस ने कई मुकदमें चला दिए, केवल मुझे तंग करने के लिए। मेरे प्रेस के मैनेजर पं० कल्याणदत्त शर्मा को पुलिस ने फोड़ लिया और इन से झूठी गवाही दिलवाई। उस समय उक्त शर्मा जी कनखल-कांग्रेस के मंत्री थे। कई बातों में इन्हों ने प्रेस को धोखा दिया! 'द्वापर की राज्य क्रान्ति' नाटक जब छपा, तो दो प्रतियाँ नियमानुसार जिला मजिस्ट्रेट को इन्हों ने नहीं भेजीं और मुझ से कह दिया कि भेज दी हैं। मैं ने पूछा, रजिस्टरी पैकेट से भेजी हैं न? बोले– नहीं, साधारण पैकेट से भेज दी हैं। मैं ने सोचा, कदाचित् डाक की गड़बड़ी से पैकेट न पहुँचा, या और कोई बात हो गई, तो मामला बन जाए गा! 'सरकार' तो हाथ धोकर पीछे पड़ी ही थी! सो, मैं ने चुपचाप उक्त पुस्तक की दो प्रतियाँ 'प्रोप्राइटर' की ओर से सहारनपुर के जिला मजिस्ट्रेट को रजिस्टरी पैकेट से भेज दीं। यह बात मैं ने मैनेजर से न कही। मैनेजर ने पुलिस को सूचना दे दी कि पुस्तक छपी है और प्रतियाँ नहीं भेजी गई हैं। कई बार गड़बड़ें देख इस समय मैं ने मैनेजर को हटा दिया था। पुलिस ने जिला मजिस्ट्रेट के प्रेस-विभाग में जाँच-पड़ताल भी न की और (जिला-मजिस्ट्रेट की अनुमति से) प्रेस पर मामला चला दिया कि उक्त पुस्तक की दो प्रतियाँ नहीं भेजी गई हैं! जाँच-पड़ताल करने की जरूरत क्या, जबकि भेजनेवाला (मैनेजर) स्वयं ही कह रहा है कि प्रतियाँ नहीं भेजी गई हैं! इस मामले में कोई सात-

आठ पेशियाँ पड़ीं। मजिस्ट्रेट जब दौरे पर होता था, तब तारीख रखवाई जाती थी कि मैं देहात में, जेठ की दुपहरी में, मारा-मारा फिरूँ! अन्ततः जिला-मजिस्ट्रेट के प्रेस-क्लर्क को मैं ने गवाह के रूप में तलब किया ; पर वह न आया। कड़ाई करने पर अगली तारीख पर पेश हुआ, रजिस्टर साथ में लिए हुए और उस पुस्तक की प्रति भी लिए ! तब मामला खारिज हुआ ; पर मैं तो इन पेशियों में ही पिस गया था ! विशेष मुसीबत यह कि इस समय मैं खाली बैठा था।——कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने ज्योंही त्याग-पत्र दिया और उत्तरप्रदेश के स्वायत्त शासन-विभाग के 'एडवाइजर' डा० पन्नालाल हुए कि मुझे पुनः अध्यापकी से बर्खास्त कर दिया गया ! इस समय बोर्ड मुअत्तल, था, अपने कुकर्मों के कारण, और एडमिनिस्ट्रेटर, एक अंग्रेज आई० सी० एस० था। सो, इन्हीं सब झंझटों में प्रेस बेंच दिया और वह रुपया रोटी-दाल के काम में कुछ दिन तक लगता रहा।

साहित्य-महारथियों के दर्शन

इस द्वितीय उन्मेष में कई साहित्य-महारथियों के दर्शन हुए, जिनमें बाबू श्यामसुन्दर दास, आचार्य द्विवेदी तथा बाबू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' मुख्य हैं। जब मैं सन् १९३१ में आगरे रह कर कांग्रेसी हलचल में जुत रहा था, बाबू श्यामसुन्दर दास के दर्शन हो गए ! एक दिन बाजार में देखा, बाबू हरिहर नाथ टंडन एम० ए० जोर से लपके जा रहे हैं ! 'नमस्ते' करके

झपाटे से आगे बढ़ने लगे, तो मैं ने रोक कर इस हड़बड़ी का कारण पूछा। बोले—"बाबू जी आए हैं। उन के लिए तमाखू लिए जा रहा हूँ।"

"कौन बाबू?" मैं ने प्रश्न किया।

"बाबू श्यामसुन्दर दास, मेरे गुरु हैं।"

"ठीक! कब आए?"

"कल आए। विश्वविद्यालय के मौखिक परीक्षक हैं। उसी सिलसिले से आए हैं। परीक्षा लेनी है।"

"क्या तमाखू वे पीते हैं?"

"हाँ, बहुत पीते हैं। हरदम हुक्का गरम रहता है। दिन भर में सेर भर तमाखू पी जाते हैं। घर में रही नहीं है; सो लेने आया था। चलिए, मिल आइए न!"

बाबू साहब के प्रति मैं पहले से ही श्रद्धावान् था। उन की हिन्दी-सेवाओं से वृन्दाबन में ही (सन् १९१५–१६ में) थोड़ा-बहुत परिचित हो चुका था; आगे तो बहुत कुछ जाना-समझा। दर्शन करने के लिए उत्सुकता स्वाभाविक थी; परन्तु एक झिझक भी थी। इस से बहुत पहले ही उन का 'साहित्यालोचन' प्रकाशित हो चुका था और उसी समय उनके कला-वर्गीकरण पर मैं ने एक लेख लिख कर प्रकाशित कराया था। कला की उत्तमता का आधार उन्हों ने आधार की सूक्ष्मता बताया था। मैं ने इस का खंडन कर के मनोभावों के उद्वेलित करने की शक्ति को ही आधार ठहराया। और उन्हों ने स्वर्णकारी को 'उपयोगी कला' बताया है, जिसे मैं ने अनुपयोगी

(केवल रंजक) कला माना। काव्य को बाबू साहब ने उपयोगी कलाओं में नहीं रखा था। मैं ने इस का भी खंडन किया था और काव्य को परम उपयोगी कला बतलाया था। मेरे तर्क तथा विचार आज भी वैसे ही हैं। मेरे मन में आया कि मेरा वह लेख बाबूजी ने पढ़ा हो गा, तो सम्भव है, नाराज हों! तब वहाँ जाना ठीक नहीं। फिर सोचा कि पं० पद्मसिंह शर्मा के भी साहित्यिक विचारों की आलोचना मैं ने की है; पर इस से वे तो नाराज वैसे हुए नहीं, मन में चाहे कुछ वैसी बात थोड़ी-बहुत हो भी। बाबू जी भी पुराने महारथी हैं, वैसा ही वात्सल्य इनमें भी हो गा। यह भी सोचा कि सम्भव है, मेरा लेख पढ़ा ही न हो! और फिर सोचा कि नाराज भी वे हों गे, तो क्या बात है! हिन्दी का असीम उपकार जिस व्यक्ति ने किया है, उसकी नाराजी सहने में भी सुख है-- 'कालागुरो हि कटुताऽपि नितान्तरम्या।' काले अगर का धुआँ कुछ कड़वा होता है; परन्तु उस कड़वाहट में ही तो मजा है। यह सब लिखने में इतनी देर लगी; पर सोचने में एक सेकेंड लगा हो गा। मैं टंडन जी के साथ चल पड़ा।

लम्बे-लम्बे डग टंडन जी के पड़ रहे थे और मैं उन के साथ खिचा चला जा रहा था! घर पहुँचा, जीने से ऊपर चढ़ा। कमरे में बाबू जी खाट पर लेटे हुए थे और उनका हुक्का कमरे के बाहर रखा था, जिस में रबर की बहुत लम्बी नली लगी थी, जो कुण्डलित हो-हो कर भीतर बाबूजी की खाट तक पहुँची थी। कमरे में पहुँचते ही मैं ने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और टंडन

जी ने मेरा नाम उन्हें बताया। मैं कुर्सी पर बैठ गया। टंडन जी उनकी शुश्रूषा में लग गए। थोड़ी देर बैठा रहा। जब बाबूजी ने मुझ से कोई बात न की, तब उन के आराम में दखल देना मैं ने उचित न समझा और उठकर प्रणाम किया, कमरे के बाहर आया। मुझे पता नहीं कि बाबू जी की प्रकृति ही ऐसी थी, या कि वे मुझ से अप्रसन्न थे! सम्भव है, मेरी कोई चीज उन के सामने आई ही न हो और उन्हें यह भान ही न हो कि यह भी मेरे ही पद-चिह्नों का अनुगामी है—हिन्दी का ही एक पुर्जा है! जो भी हो, मैं कुछ विशेष निर्णय न कर पाया; परन्तु 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' के प्राणों का दर्शन भी क्या कुछ कम मेरे लिए था?

बाबू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'

'भानु' जी के दर्शन भी मैं ने इसी उन्मेष में किए; यद्यपि आप की रचनाओं से प्रभावित बहुत पहले हो चुका था। इस से पहले ही मैं ने और 'समीर' जी ने अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद के लिए आप का नाम प्रस्तावित किया था, कुछ लिखा-पढ़ा भी था; परन्तु, नक्कारखाने में तूती की आवाज कौन सुनता है!

मध्यप्रदेश की सरकारी सर्विस में मेरे श्वशुर पं० कन्हैया लाल मिश्र थे और वे उस समय बिलासपुर बदल कर आए थे। मैं अपनी स्त्री को लेने गया था। मालुम हुआ कि 'भानु' जी यहीं हैं, जिन की किरणों ने हिन्दी-जगत् के छन्द-क्षेत्र के तम

तोम को बहुत पहले नष्ट कर के सदा के लिए प्रकाश पैदा कर दिया है।

"भानु प्रेस" पहुँचा और फिर 'भानु'-भवन। खबर पहुँची और तुरन्त सामने आते हुए एक साहित्यिक ऋषि दिखाई दिए—सौम्य गौर वदन, सुन्दर शारीरिक गठन, बुढ़ापे में भी संयम-दृढ़ स्वास्थ्य और सफेद वस्त्रों को छूती हुई उसी रंग में लम्बी घनी दाढ़ी। मैं ने समझ लिया—'भानु' जी ही हैं। आते ही प्रणाम किया, जिस के उत्तर में उन्हों ने भी हाथ जोड़ दिए। "कहाँ से आये हैं, नाम क्या है" प्रश्न हुआ। उत्तर के अक्षर सुनते ही 'भानु' जी का सुशीतल वात्सल्य छलक पड़ा, जैसे हिमभानु की चाँदनी छिटक पड़ी हो। बड़े प्रेम से भीतर ले गए, अपने निजी कमरे में। पुस्तकों की ही सजावट थी। भानु जी पिङ्गल को अपना गुरु मानते थे, पर मैं समझता हूँ, आचार्य पिङ्गल की पिङ्गल छटा को अपने प्रभाव से भानु जी ने अतिशय शुभ्र कर दिया था। छन्द-शास्त्र में 'भानु' जी ने हिन्दी की सेवा कर दी, सो कर दी। वह इतनी पूर्णता है कि आगे कुछ करना बाकी ही न रहा। उस समय गणित के मनोरंजनों से भानु जी मन बहलाया करते थे, कई पुस्तकें लिखकर प्रकाशित कराई थीं, जो स्नेह पूर्वक प्रसाद-रूप मुझे दीं। फिर अपनी छोटी-सी पौत्री को बुलाया और गीत गाने को कहा। उस नन्ही बालिका ने तोतले कण्ठ से जो मधुर गीत गाया, वह कदाचित् 'भानु' जी का ही बनाया हुआ था—'हाय हाय! नौकरी बुरी' से प्रारम्भ हुआ

था और एक अद्भुत् दैन्य का उसमें चित्रण था। 'भानु' जी सरकारी नौकरी में थे और असि० सेटलमेंट कमिश्नर के पद से अवकाश ग्रहण किया था, कई सौ रुपये मासिक पेंशन पाते थे। 'भानु' जी राष्ट्रीय विचार रखते थे, जो दबा कर रखने पड़े हों गे। असह्य पीड़ा ! परन्तु राष्ट्रभाषाकी सेवा जो उन्हों ने उस समय की, वह सब से बड़ी राष्ट्र-सेवा थी। उस समय हिन्दी को पूछता कौन था ! राय बहादुर पं० श्याम विहारी मिश्र, राय बहादुर पं० शुकदेव विहारी मिश्र, और राय बहादुर बाबू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' जैसे उच्च पदाधिकारियों ने जब हिन्दी का पक्ष उस निष्ठा से लिया, तब लोग कुछ-कुछ समझे कि हिन्दी भी कुछ है ! इन के पीछे अंग्रेजी वालों की एक लम्बी कतार हिन्दी की ओर चल पड़ी। यह राष्ट्र की छोटी सेवा न थी ! उस परिस्थिति में पड़ कर जो सेवा कर सकते थे, खूब की।

बात-चीत में 'काव्यप्रभाकर' तथा उस की आलोचना की चर्चा चली। 'भानु' जी का 'छन्द-प्रभाकर' हिन्दी की बेजोड़ निधि है, पर उन्हों ने अलंकार आदि पर भी एक बड़ा ग्रन्थ लिखा था--'काव्य-प्रभाकर'। इस का भी चलन खूब रहा, परन्तु आगे चल कर इस की गति कुंठित हो गई। इस ग्रन्थ पर सेठ कन्हैया लाल पोद्दार ने एक प्रहार किया। सेठ जी ने इस विषय का अच्छा अध्ययन किया है, संस्कृतज्ञ भी हैं। 'भानु' जी में इस की कमी थी। तब तक सेठ जी से या उन की प्रकृति से मैं परिचित

न था। 'भानु' जी ने कहा—"सेठ जी ब्राह्मण-सेवी हैं; इस लिए उन के सब काम सिद्ध हो जाते हैं।" इस का व्यंग्य मैं ने यह समझा कि सेठ जी कुछ थोड़ा-बहुत यह विषय जानते हों गे और विद्वानों की सेवा कर के बहुत कुछ लिख-लिखा लेते हैं। 'भानु' जी को उन्हों ने अलंकार-प्रकरण में काफी झकझोर दिया था, यह मुझे अच्छा न लगा था; क्योंकि 'भानु' जी के प्रति मैं अतिशय श्रद्धावान् था। मैं ने सेठ जी को बदला चुकाने का निश्चय कर लिया; यद्यपि 'भानु' जी से इस पर कुछ न कहा। घर वापस आकर मैं ने एक लंबा लेख वर्तमान अलंकार-ग्रन्थों पर लिखा, जिस में डा० रसाल आदि सभी प्रमुख जनों के ग्रन्थों की आलोचना की; साथ ही सेठ जी के 'काव्य-कल्पद्रुम' पर भी कलम-कुल्हाड़ा गिरा! अन्य सभी आधुनिक अलंकार-ग्रन्थों की अपेक्षा इस ग्रन्थ की श्रेष्ठता मैं ने स्वीकर की; परन्तु अनेक गलतियाँ-त्रुटियाँ भी दिखाईं। साथ ही यह भी लिख दिया कि सेठ जी ब्राह्मणसेवी हैं; इस लिए इनका निखार खूब हो रहा है।

सेठ जी ने मेरी आलोचना का उत्तर भी 'माधुरी' में ही छपवाया; परन्तु कुछ ही दिन बाद मुझे सप्रेम निमंत्रित किया कि 'काव्य-कल्पद्रुम' का अगला संस्करण निकलनेवाला है; इस लिए छपने से पहले आप देख लें, तो ठीक रहे। छप जाने के बाद उस दृष्टि से देखना काम नहीं देता है! मुझे इतने लम्बे अर्से में एकमात्र सेठ जी ही ऐसे उदार साहित्य-महारथी मिले, जिन्हों ने वैसा कटु व्यंग्य सुन कर भी अपने आलोचक

को यों बुला कर गौरवान्वित किया। इस से उनका गौरव तो बढ़ा ही। मैं यथावसर मथुरा गया और पन्द्रह दिन के लगभग वहाँ ठहरा। इस में सन्देह नहीं कि सेठ जी वस्तुतः ब्राह्मण-सेवी हैं; परन्तु 'भानु' जी के उस वाक्य से जो व्यंग्य मैं ने समझा था और जिसे मैं ने 'माधुरी' के उस लेख द्वारा प्रकट किया था, वह पूर्ण गलत निकला। सेठ जी संस्कृत साहित्य-शास्त्र के इतने बड़े विद्वान हैं, यह मैं न जानता था। पुस्तकों का बड़ा अच्छा संग्रह आप ने किया है। मुनीमों के बहीखातों से घिरे हुए भी सेठ जी 'ध्वन्यालोक' आदि का चिन्तन उस समय करते रहते थे। 'काव्य-कल्पद्रुम' के जिस स्थल पर मैं कोई सुझाव देता था, उसे वे यों ही नहीं मान लेते थे; खूब लम्बी बहस करते थे, ग्रन्थों के पन्ने उलटे-पलटे जाते थे; और फिर उन पर तुलनात्मक आलोचना चलती थी; तब जा कर कोई निर्णय मान्य-अमान्य होता था। इस समय मैं अपनी बुद्धि पर पछवाया कि 'भानु' जी के उस वाक्य का वैसा व्यंग्य निकाला और फिर छपाया!

जब मथुरा से मैं बिदा होने लगा, तो द्वार पर सेठ जी बिदा करने आए। टाँगे पर बैठते समय मुझ से उन्हों ने संकोच-पूर्वक कहा—"आपने जो वह एक व्यंजना की थी, उस पर आप का क्या मत अब है?" मैं लज्जा का अनुभव कर रहा था। बोला—"वह बात तो एकदम गलत निकली!"

"तो फिर आप अपने इस नये अनुभव को प्रकट करेंगे, या नहीं?"

—"अवश्य प्रकट करूँ गा" मैं ने दृढ़ता से कहा। घर आ कर मैं ने इस यात्रा का वर्णन किया कि किस तरह लखनऊ पहुंच कर श्री दुलारे लाल भार्गव के यहाँ मीठे खरबूजे खाते-खाते 'दुलारे-दोहावली' के दोहों का आनन्द लिया, द्विवेदी जी के गाँव (दौलत पुर) पहुंच कर क्या देखा-सुना और वहाँ से मथुरा क्यों-कैसे पहुंचा, सेठ जी को कैसा पाया, इत्यादि। इस लेख में मैं ने स्पष्ट ही अपनी भूल स्वीकार की थी और लिखा था कि 'भानु' जी के उस वाक्य से मैं ने जो धारणा बना ली थी, वह गलत निकली; आमने-सामने बैठ कर जब पन्द्रह दिन तक साहित्य-चर्चा हुई।

तभी से सेठ जी के प्रति मेरे मन में कुछ अद्भुत सम्मान है। सेठ जी आचार्य द्विवेदी के उठते हुए युग की विभूति हैं। 'सरस्वती' में कुछ लिखते रहने के लिए द्विवेदी जी ने उन दिनों जिन साहित्यकारों को सप्रेम आमन्त्रित किया था, उन में एक सेठ जी भी हैं।

कभी-कभी कैसी गलत-फहमी हो जाया करती है!

आचार्य द्विवेदी

आचार्य द्विवेदी ने इस जन को प्रथम कार्ड भेज कर द्वितीय उन्मेष के प्रारम्भ में ही प्रोत्साहित किया था। अपने साहित्यिक जीवन में इस कार्ड को मैं सर्वाधिक सम्मान समझता हूँ। इस के बाद तो लगभग सौ कार्ड-लिफाफे द्विवेदी जी के हाथ के लिखे हुए प्राप्त हुए। कितना बड़ा सौभाग्य मिला एक

ऐसे व्यक्ति को, जिसे हिन्दी-जगत् ने आज तक बहिष्कृत कर रखा है-न कहीं नाम, न कहीं इस की लिखी पुस्तक! द्विवेदी जी वस्तुतः नीचे गिरे को ऊपर उठाने की प्रवृत्ति रखते थे।

आगे चल कर प्रयाग में 'द्विवेदी-मेला' के नाम से बहुत बड़ा अभिनन्दन - समारोह हुआ, जिस का उद्घाटन महर्षि पं० मदनमोहन मालवीय ने किया था और सभापतित्व किया था अपने आप को द्विवेदी जी का 'हिन्दी-शिष्य' मान कर कृतज्ञतापूर्ण उदारता प्रकट करनेवाले पं० गंगानाथ झा ने, जो प्रयाग-विश्वविद्यालय के संस्मरणीय 'वाइसचांसलर' थे और अन्तर-राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त संस्कृत के महान् विद्वान् थे। इसी मेले में मैं ने पहली बार द्विवेदी जी के दर्शन किए। इस के बाद तो मैं दो बार उनके गाँव (दौलतपुर) गया। कई-कई दिन साथ रहा, साथ घूमा-फिरा, न जाने कितनी बातें हुईं! बहुत अधिक संस्मरण हैं। एक जीवनी द्विवेदी जी की लिखनी है। उसी में यथा प्रसंग जरूरी बातें आएँगी। यहाँ एक चीज पर प्रकाश डालना है।

अपने साहित्यिक जीवन के इस द्वितीय उन्मेष में मैं ने एक इतना महत्त्वपूर्ण काम किया कि इस जन्म में यदि और कोई भी राष्ट्र का काम न करता, तो भी मेरी आत्मा (राष्ट्र) के अनन्त ऋण से उऋण हो जाती। यह सौभाग्य की बात है कि भगवान् ने इस जन के द्वारा वह उतना बड़ा काम कराया। वह काम है हिन्दी-जगत् के आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के—

महत्त्वपूर्ण कागज-पत्रों का प्रकटीकरण

इस बड़ी रोचक कथा का संक्षेप यहाँ देना जरूरी है। मैं इसे अपने साहित्यिक-जीवन की सब से बड़ी सफलता समझता हूँ। नागा साधुओं के सम्बन्ध में वह सब से बड़ा आन्दोलन चला कर मैं ने अपनी जान खतरे में डाल दी थी; पर उस में सफलता न मिली। परन्तु साहित्य का यह सब से बड़ा काम मैं ने अपनी जान जोखिम में डाले बिना सफलता से सम्पन्न कर लिया; किन्तु अपने ऊपर एक बड़े संगठन का कोप तथा कुछ बहुत बड़े लोगों का बैर बढ़ा लिया! इस मूल्य पर भी सौदा सस्ता रहा।

हिन्दी-जगत् के परमाचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी को समय-समय पर उनके सहयोगी-साहित्यिकों ने जो पत्र लिखे थे, उन में से दो चार भी आपको देखने को मिल जाएँ, तो कैसा रहे? आचार्य द्विवेदी को लिखे गए पत्रों में क्या हो गा, इस की कल्पना भी आप नहीं कर सकते। पात्र के अनुरूप ही चीज मिलती है। एक ही लेखक मुझे कुछ और लिखे गा और आचार्य द्विवेदी को उस ने कुछ और ही लिखा हो गा। दोनों तरह के पत्रों में उतना ही अन्तर हो सकता है, जितना इन पंक्तियों के लेखक में और आचार्य द्विवेदी में। उस समय किस-किस शब्द पर आपस में क्या-क्या विचार-विमर्श पत्र-व्यवहार द्वारा हुए थे; किस समय किस ने किसे क्या साहित्यिक परामर्श दिया था; उस समय की साहित्यिक ग्रन्थियों को

सुलझाने के लिए किस ने किस से क्या सहयोग माँगा था ; यह सब उन पत्रों से मालूम हो सकता है ; जो एक दूसरे को लिखे गए थे। परन्तु वे पत्र मिलें कहाँ ? एक पत्र की भी खोज कर लेना मामूली काम नहीं है ! ऐसी स्थिति में यदि इकट्ठे बहुत से पत्र आप को अनायास मिल जाएँ, तो कैसा रहे ? क्या कहना ! और साथ ही उस समय के साहित्यिकों की पाण्डुलिपियाँ मिल जाएँ, तो ?

तब तो चुपड़ी और दो-दो ! देखने को मिले कि बाबू श्यामसुन्दर दास और महाकवि 'हरिऔध' आदि किस तरह लिखते थे। महाकवि श्री मैथिली शरण गुप्त की लिखी कविताओं का कहाँ क्या संशोधन द्विवेदी जी ने किया था ; यह सब भी किसी पाण्डुलिपि में देखने को मिल जाए, तो एक नक्शा सामने आ जाए। द्विवेदी जी अपने समकालीन लेखकों की रचनाओं में कैसा संशोधन करते थे, देखने की चीज है। पर मिले कहाँ ?

द्विवेदी जी की एक बड़ी देन

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के लिए क्या-किया, सब जानते हैं। यदि वे अपने संस्मरण लिख जाते, या अपने साहित्यिक जीवन का क्रमवद्ध वर्णन कर जाते—'आत्मकथा' लिख जाते, तो लगभग पचास वर्षों का हिन्दी-जगत् मूर्तिमान् हो उठता। इस के लिए कई प्रकाशकों ने कई बार उन से प्रार्थना भी की—बड़ी-बड़ी रकमें भेंट करने

को कहा ; पर वे तयार न हुए ! इस लिए तयार न हुए कि वे अत्यन्त उदात्त - वृत्ति के पुरुष थे। उन की आत्म-कथा में जो कुछ आता, आप समझ सकते हैं। उन की उस समय हिन्दी में सर्वोच्च सत्ता थी। वह सब अपनी कलम से कैसे वे लिखते ? परन्तु वैसा न करने से हिन्दी को बड़ा घाटा रहता, जो नहीं रहा; क्योंकि उन्हों ने वह सब सामग्री संजो कर रखी, और उसे वे काशी नागरी-प्रचारणी सभा को भेंट कर गए हैं, जो कि उनकी 'आत्म-कथा' का ही दूसरा रूप है।

'सभा' को दान

आचार्य द्विवेदी ने 'नागरी-प्रचारिणी सभा काशी' को अपनी जो चिर-संचित साहित्यिक सामग्री भेंट की, उसे तीन भागों में रख सकते हैं——

१——पुस्तक-संग्रह

२——पत्र-व्यवहार तथा अन्य कागज-पत्र

३——संशोधन - सहित पाण्डुलिपियाँ

पुस्तक-संग्रह तो 'सभा' को बहुत पहले ही दे दिया था। प्रदत्त सभी पुस्तकों पर द्विवेदी जी के हस्ताक्षर हैं। समालोचनार्थ प्राप्त पुस्तकों पर तारीख पड़ी है और जिस तारीख को जिस की समालोचना की गई, वह भी दी हुई है। कहीं-कहीं द्विवेदी जी ने हाशिए पर या नीचे-ऊपर अपने नोट दिए हैं। मैं ने एक 'हिन्दी-प्राइमर' भी उस पुस्तक-संग्रह में देखी—— 'वर्ण-बोध'। बच्चों की इस पुस्तक पर भी द्विवेदी जी ने

जगह-जगह अपने मन्तव्य दिए हैं ! नीवें लगा रहे थे न ! जिस समय बाबू श्यामसुन्दर दास के गहन साहित्यिक लेखों का संशोधन कर रहे थे और श्री मैथिलीशरण गुप्त को कविता का पाठ पढ़ा कर जब राष्ट्र-कवि बना रहे थे, उसी समय 'हिन्दी प्राइमर' का भी संशोधन कर रहे थे वे ! ईंट-पत्थर इकट्ठे करना, चूना-सीमेंट तयार करना और फिर कन्नी हाथ में ले कर इमारत बनाना एक ही व्यक्ति का काम ! कारीगर भी वे तयार करते थे और उनसे फिर काम लेते थे ।

सो, द्विवेदी जी का यह पुस्तक-संग्रह बड़े काम की चीज है—'रिसर्च' के लिए ।

दूसरे और तीसरे विभागों की चीजें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जो संक्षेप में 'द्विवेदी जी के कागज-पत्र' कर के प्रसिद्ध हैं । द्विवेदी जी ने एक विशेष ढँग से ये अपने महत्त्वपूर्ण कागज-पत्र 'सभा' को भेजे थे। 'सभा' के मन्त्री को एक पत्र भेजा था आप ने, जिस में लिखा कि मेरे संगृहीत कागज-पत्रों का संग्रह आगे इतिहास के लेखकों के काम आए गा । इसे देख कर लोग समझ सकें गे कि आज के धुरन्धर साहित्यकार किसी समय किस तरह राह पर लाए गए थे । द्विवेदी जी ने इस पत्र में लिखा कि 'सभा' को ही मैं इन कागज-पत्रों के पाने का अधिकारी समझता हूँ । उन्हों ने इसी पत्र में यह लिखा कि ये सब कागज-पत्र 'सेफ' में रखे जाएँ और ताली मंत्री जी स्वयं अपने पास रखें । उन्हों ने आज्ञा दी—मेरे मरने के बाद ही ये बंडल खोले जाएँ ।

इस पत्र के साथ वे सब कागज-पत्र द्विवेदी जी ने 'सभा' को भेज दिए। यह समाचार मैं ने किसी समाचारपत्र में पढ़ा था। इस के बाद मैं दो बार द्विवेदी जी के दर्शन करने उन के गाँव (दौलतपुर) गया और कई-कई दिन वहाँ ठहरा। परन्तु उन कागज-पत्रों के बारे में कोई चर्चा मैं ने न चलाई। उचित न समझा; क्योंकि उस समाचार-पत्र में यह भी मैं ने पढ़ा था कि 'मेरे मरने के बाद ही ये बंडल खोले जाएँ' यह आज्ञा द्विवेदी जी ने दी है! तब उनके बारे में कैसे कुछ पूछता! न उन्हों ने ही कोई चर्चा की।

द्विवेदी जी के दिवंगत हो जाने के बाद यह जानने की इच्छा रही कि उन बंडलों में वे 'सभा' को जो कागज-पत्र दे गए हैं, उन में क्या है! कुछ दिन प्रतीक्षा में रहा कि 'सभा' के अधिकारी बंडल खोलें गे, तो सब विवरण प्रकाशित कराएँ गे। परन्तु बहुत दिन बीत जाने पर भी कोई जानकारी न मिली। तब मैं ने एक कार्ड 'सभा' को भेजा और पूछा कि द्विवेदी जी के दिए हुए कागज-पत्रों के वे बंडल खोले गए कि नहीं? खोले गए, तो उन में क्या निकला? उत्तर न मिला, दूसरा पत्र भेजा। इस का भी कोई उत्तर न मिला!

'सम्मेलन' का काशी-अधिवेशन

कुछ दिन बाद सन् १९३९ में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन काशी में हुआ। पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी अध्यक्ष थे। बाबू श्यामसुन्दर दास भी उस समय वर्तमान

थे। मैं भी काशी गया। 'सभा' के पीछे बड़ा भूमि-भाग है; उसी में मण्डप बनाया गया था। प्रतिनिधियों को ठहराने का प्रबन्ध वहाँ से थोड़ी दूर था। 'सम्मेलन' में जाते दोनो समय 'सभा' के अधिकारियों से मैं मिलता और द्विवेदी जी के कागज-पत्रों के बारे में पूछता। परन्तु किसी ने कुछ भी न बताया। 'सभा' के सहायक मन्त्री से मिला। उन्हों ने भी सिर हिला दिया—'मुझे तो कुछ पता नहीं!' इतनी बड़ी चीज और यों बे-पते! बहुत बुरा लगा! अधिवेशन का अन्तिम दिन था; कई प्रस्तावों में मेरी अभिरुचि थी; पर सब भूल गया। एक प्रस्ताव तयार किया कि 'द्विवेदी जी के दिए हुए वे कागज-पत्रों के बंडल इस समय खोले जाएँ; जिस से कि सम्मेलन के प्रतिनिधि भी देख सकें।' परन्तु 'सम्मेलन' के बड़े लोगों को यह प्रस्ताव पसन्द न आया; क्योंकि 'सभा' एक स्वतन्त्र संस्था है और उसके सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव 'सम्मेलन' में लाया जाए; यह ठीक नहीं। ऐसा समझ कर उन्हों ने प्रस्ताव रखना ठीक न समझा। मैं दूसरे की बात तो न मानता; पर राजर्षि टंडन की बात मैं कैसे टालता? मान गया। प्रस्ताव फाड़ कर फेंक दिया और उठ कर एक प्रेस गया। आठ-दस रुपये खर्च करने की सोच ली; यद्यपि उन दिनों बहुत तंगी में था। सामने बैठे-बैठे एक छोटा सा—

लाल पर्चा छपवाया

यह पर्चा ला कर सम्मेलन-मण्डप में अपने हाथों मैं ने

बाँट दिया। इस में यह लिखा था कि आचार्य द्विवेदी ने 'सभा' को जो कागज - पत्र कई बंडलों में बन्द कर के दिए थे, वे इस अवसर पर खोले जाने चाहिए। इस पर्चे ने कुतूहल के साथ एक बबंडर उस समय पैदा कर दिया था! जगह-जगह कानाफूसी होने लगी। 'सभा'-भवन की दीवार से सटे बाबू श्यामसुन्दर दास जी कई साहित्यिकों से बातें कर रहे थे, जिन में श्री दुलारेलाल भार्गव भी थे। मैं सामने से निकला, तो भार्गव ने हँसते हुए मुझे बुला लिया। आगे बढ़ कर मैं ने 'बाबू जी' को अभिवादन किया। चर्चा जारी थी। बाबू साहब (बाबू श्यामसुन्दर दास) कह रहे थे कि, कुछ पत्रों के बंडल द्विवेदी जी ने भेजे तो थे और वे उन्हीं (द्विवेदी जी) की आज्ञानुसार खोल कर एक साहित्यिक को दिखाए भी गए थे; परन्तु उसके बाद क्या हुआ, मुझे पता नहीं। बाबू साहब की इस बात से मुझे सन्तोष भी हुआ और आशंका भी हुई कि आगे क्या हुआ! बहुत पता लगाने पर भी कोई भेद न खुला।

पत्रों में चर्चा

काशी से लौट कर मैं ने विभिन्न पत्रों में द्विवेदी जी के उन कागज-पत्रों की चर्चा की और 'सभा' से माँग की, उन बंडलों को खोल कर सब प्रकट करने की। इस के उत्तर में 'सभा' के अधिकारियों ने छपाया कि "द्विवेदी जी के कोई बंडल तो सभा में नहीं हैं; हाँ, एक लिफाफे में कुछ नोट उन्हों

ने अभिनन्दन - महोत्सव पर जरूर दिए थे, जो उन की आज्ञानुसार ही खर्च कर दिए गए थे।"

'सभा' के इस नोट का जवाब मैं ने छपाया कि नोट तो द्विवेदी जी ने लिफाफे में दिए थे; पर अपने कागज-पत्र बड़े-बड़े बंडलों में दिए थे और मैं उन्हीं बंडलों की चर्चा कर रहा हूँ। भले ही बंडल को आप 'बड़ा लिफाफा' ही कह लें; परन्तु अभिनन्दन-उत्सव पर दिए नोटों के उस लिफाफे से इस का कोई मतलब नहीं है!

मैं ने चर्चा जारी रखी; परन्तु पत्र-पत्रिकाओं ने मुझे सहयोग देना बन्द कर दिया! मालूम नहीं, 'सभा' ने निर्देश भेजा; या यों ही 'सभा' को सच और मुझे झूठा समझ लिया! यही नहीं, कुछ पत्र साफ-साफ मुझे झूठा बतलाने लगे और 'सभा' का समर्थन करने लगे! आगरे के 'साहित्य-सन्देश' में बाबू गुलाब राय एम० ए० (सम्पादक) ने

'लिफाफा-आन्दोलन'

शीर्षक से एक सम्पादकीय टिप्पणी प्रकाशित की थी, जिस में मेरे विपक्ष 'सभा' का पक्ष जोरों से लिया गया था। मैं किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया! भाग्य की बात, इसी समय आगरे से

'मराल' साहित्यिक पत्र

निकला। इसके संचालक कनखल आए और मुझ से कहा कि 'आप इस पत्र के प्रधान सम्पादक बनें, तो बहुत अच्छा

हो ; परन्तु मैं सेवा थोड़ी ही कर सकूं गा।' मुझे पत्र एक चाहिए ही था। कहा—"भाई, मैं आगरे न जाऊं गा; यहीं से सम्पादकीय लिख कर भेज दिया करूं गा। शेष सब काम दूसरे सम्पादक (डा० श्यामसुन्दर दीक्षित) करें गे।" मैं ने खर्च के लिए यह कह दिया कि जो भी दो गे, ले लूं गा।

बात पक्की हो गई। 'मराल' में नियमित रूप से लगातार सब निकलने लगा। तब इलाहाबाद के 'देशदूत' ने 'सभा' का पक्ष लिया। इस पर मैं ने 'मराल' में केवल इतना लिखा कि "यह इण्डियन प्रेस का पत्र है, जिसे 'सभा' का प्रकाशन प्राप्त है, पुराने मधुर सम्बन्ध हैं। इस लिए अपने मालिक के इशारे पर सब लिखा गया हो गा और ऐसी स्थिति में उत्तर देना अनावश्यक है। बेचारे सम्पादकों की स्थिति हम समझते हैं।"

'मराल' के इस नोट ने प्रयाग में आग लगा दी! लोग भड़के और 'देशदूत' के सम्पादक पं० ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल' तथा ठाकुर श्रीनाथ सिंह का एक संयुक्त—

अदालती नोटिस मुझे मिला

लिखा था—आप ने हम लोंगो का अपमान किया है, बल्कि 'मराल' की उस टिप्पणी से इंडियन प्रेस के मालिकों का भी अपमान हुआ है, इस लिए माफी माँगो, अन्यथा अदालत में मानहानि का दावा किया जाए गा।

नोटिस पढ़ कर उसी दिन जवाब लिख कर भेज दिया—

'आप जरूर अदालत में मानहानि का दावा करें। मैं यही चाहता हूँ। वहीं सब बातें खुलेंगी।'

परन्तु कौन दावा करता है! चुप हो गए। हाँ, इसके थोड़े ही दिन बाद आगरे से सेठ जी का पत्र आया—'मराल' आगे चलाने का इरादा नहीं है। बन्द किया जा रहा है।' झूठ समझा हो, या सच; समझा मैं यही उस समय कि 'मराल' बन्द कराया गया है। 'मराल' के प्रकाशक एक पुस्तक-प्रकाशक हैं और इन के द्वारा प्रकाशित पुस्तकें सरकारी परीक्षाओं में चलती रहती हैं। ऐसे आदमियों पर न जाने कहाँ-कहाँ से कैसा-कैसा प्रभाव डलवाया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि लाला जी ने 'मराल' चलाना अपने आप बन्द किया हो! मतलब यह कि यह सुन्दर सन्देश-वाहक हाथ से जाता रहा।

अब क्या किया जाए ?

सोचा, अब क्या किया जाए? कोई मेरी चीज छापता न था। सब बकवास समझते थे। उस समय सुदूर लाहौर से एक साप्ताहिक 'विश्ववन्धु' निकलता था। उस को भेजने लगा। सम्पादक थे 'माधव' जी, सब छापने लगे। कुछ दिन बाद 'सभा' से एक पत्र 'विश्ववन्धु'—सम्पादक के नाम पहुंचा। लिखा था—आपको 'सभा' के विरुद्ध ऐसे कुप्रचार में योग न देना चाहिए। 'विश्ववन्धु' के सम्पादक ने इस पत्र का उल्लेख कर के कहा—'सभा' को अपनी स्थिति

स्पष्ट करनी चाहिए। वाजपेयी जी की तर्क-संगत चीज हम छापते हैं और 'सभा' का भी उचित उत्तर छापेंगे।"

इस से मुझे बल मिला। परन्तु अब 'विश्ववन्धु' में भी बार-बार वे ही बातें घुमा-फिरा कर कहाँ तक लिखी जाएं।

इसी समय 'सभा' के प्रधान मंत्री पं० रामबहोरी लाल शुक्ल का पत्र आया। लिखा था--'सभा' के रिकार्डों से मुझे द्विवेदी जी के कागज-पत्रों का कुछ भी पता नहीं चलता और सभा के पुराने अधिकारी कुछ बतला नहीं रहे हैं।

यह पत्र अत्यन्त सौम्य था। परन्तु 'सभा' के दूसरे प्रधान मंत्री पं० लल्ली प्रसाद पाण्डेय ने तो मेरे विरुद्ध युद्ध-घोषणा ही कर दी थी। यही नहीं, वे द्विवेदी जी के 'कागद-पत्तर' लिख-लिखकर मजाक भी उड़ाने लगे। मैं उदास हो गया।

इस समय मेरी उदासी पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी। दो वर्ष तक संघर्ष किया। किसी तरह कठिनाई से बाल-बच्चों को रूखी-सूखी रोटियों का प्रबन्ध कर रहा था; उस में से भी बचा कर काफी पैसा इस ऋषि-श्राद्ध में लगा दिया था। उलझा ऐसा रहा कि और कोई काम भी गति का न कर पाया। लोगों में झूठा बना और बड़े लोगों की झिड़कियाँ खाईं। 'सभा' की देश में प्रतिष्ठा है और बड़ा फैलाव है। न जाने किस-किस ने बुरा माना! और इतने पर भी वे कागज-पत्र न बरामद हो पाए, जिन के लिए यह सब कुछ हुआ।

बड़ी चिन्ता में रहता था कि क्या करूं ! एक दिन आलमारी से 'सरस्वती' का 'द्विवेदी स्मृति-अंक' निकाला। कई दिन तक उसे ही उलटता-पलटता रहा। आखिर मा सरस्वती एक दिन प्रसन्न हो गईं और मुझे एक बहुत बड़ी चीज उन की कृपा से मिल गई। निश्चय ही इस साहित्यिक युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए मुझे——

ब्रह्मास्त्र मिल गया !

'सरस्वती' के इस विशेषाङ्क में एक बंगाली सज्जन का एक लेख पढ़ा, जो उन दिनों इण्डियन प्रेस (प्रयाग) की काशी-शाखा के मैनेजर थे। इस लेख में उन्हीं कागज-पत्रों का जिक्र था, जिन का अस्तित्व मनवाने के लिए 'सभा' से मेरा लम्बा संघर्ष चला। लिखा था कि द्विवेदी जी के स्वर्गवासी हो जाने के बाद मैं एक दिन 'सभा' के कार्यालय में गया, तो देखा कि द्विवेदी जी के वे कागज-पत्र खोले-देखे जा रहे हैं, जिन्हें वे कई बंडलों में बन्द कर के 'सभा' को दे गए थे। लेखक ने यह भी उस लेख में लिखा है कि मेरे साथ मेरे एक मित्र भी उस समय थे और हम दोनों ने उन कागज-पत्रों में से कई पत्र उठा कर पढ़े भी। लेखक ने इन कागज पत्रों को बहुत महत्त्वपूर्ण बतला कर इन के सदुपयोग की अपील हिन्दी संसार से की थी।

मैं हर्ष से उत्फुल्ल हो उठा। कई बार इस लेख को आदि से अन्त तक पढ़ा। पता लगाया, तो मालूम हुआ कि

लेखक ने अपने जिस 'मित्र' का उल्लेख किया है, वे पं० लल्ली प्रसाद पाण्डेय हैं। पाण्डेय जी भी उन दिनों इं० प्रे० की काशी-शाखा में ही काम करते थे। 'सरस्वती' का 'द्विवेदी स्मृति-अंक' निकलने के बहुत दिन बाद मैं ने उन कागज-पत्रों के लिए वह चर्चा शुरू की थी और चर्चा काफी चल चुकी थी, जब कि पाण्डेय जी 'सभा' के प्रधान मंत्री चुने गए। प्रधान मंत्री के रूप में ही उन्हों ने द्विवेदी जी के कागज-पत्रों का 'सभा' में अस्तित्व अस्वीकार किया था। बड़ी विचित्र बात थी!

मैं तो दो मूठ पर खेल ही जाता था उस समय। यह लिखित मजबूत आधार मिल जाने पर मैं ने—

'सभा' को अदालती नोटिस दे दिया

लिखा कि अब पक्का सबूत मेरे हाथ लग गया है, यह साबित करने के लिए कि द्विवेदी जी ने 'सभा' को अपने महत्त्व-पूर्ण कागजों के बंडल जो दिए थे, उन्हें 'सभा' के अधिकारियों ने (द्विवेदी जी का स्वर्गवास हो जाने के बाद) खोला था और पूरी देख-भाल की थी। निश्चय ही वह सामग्री हिन्दी-संसार की है, जो 'सभा' के पास एक अमानत के रूप में थी। मालूम नहीं क्यों, 'सभा' ने उन कागज-पत्रों को नष्ट कर दिया है; ऐसा जान पड़ता है। अथवा, सभा उन्हें नष्ट करने का इरादा रखती है। निश्चय ही यह थाती नष्ट कर देने का संगीन मामला है और इस लिए मैं 'सभा' पर अदालती कारंवाई शुरू करने जा रहा हूँ। वस्तु-स्थिति स्पष्ट करने

के लिए पन्द्रह दिन की अवधि 'सभा' को दे रहा हूँ।

अपने नोटिस में उपर्युक्त बातें लिख कर रजिस्टरी 'सभा' के प्रधान मंत्री के नाम भेज दिया। तीर की तरह इस नोटिस का असर हुआ और एक सप्ताह के भीतर ही जवाब आ गया कि 'सभा' में द्विवेदी जी के कागज-पत्र सुरक्षित हैं, जो उन्हों ने कई बंडलों में भर कर दिए थे। कोई भी 'सभा' में आ कर इन कागज-पत्रों को देख सकता है।' इसी आशय का वक्तव्य 'सभा' के मंत्री ने समाचार-पत्रों में छपवा दिया। एक बड़ा यज्ञ इस तरह पूर्ण हुआ--सफल हुआ।

मैं ने वह सामग्री देखी

अब मैं काशी गया और अपनी आँखों वह सब सामग्री देखी। ठहरने की सुविधा न थी, भोजन आदि का कोई प्रबन्ध न था। 'सभा' के एक चपरासी की कोठरी में बिस्तर और बाजार में भोजन! फिर भी, चार-पाँच दिन मैं ने सामग्री देखने में लगाए। प्रति दिन चार-पाँच घंटे लगातार बैठता था। 'सभा' के सहायक मंत्री अपने सामने बैठा कर देखने देते थे। रत्न कूड़े में डाल रखे गए थे! एक बड़े अधखुले बंडल को जोर से पटक कर धूल धक्कड़ झाड़ने लगा, तो भीतर से छिपकली के अंडे निकल पड़े! ऐसी व्यवस्था उन कागज-पत्रों की, जिन्हें द्विवेदी जी ने उतने दिन संजोए रखा और फिर उस निर्देश के साथ 'सभा' को सुरक्षित रखने के लिए सौंपा था।

समय परिमित था; इस लिए जल्दी-जल्दी में सब देखता जाता था। कभी किसी पत्र का कोई अंश पढ़ लेता था, कभी कोई पत्र पूरा पढ़े बिना जी मानता न था। संग्रह में उस समय के सभी साहित्यिकों के पत्र हैं—१—महर्षि पं० मदन मोहन मालवीय २—बाबू श्यामसुन्दर दास ३—महाकवि 'हरिऔध' ४—श्री मैथिली शरण गुप्त ५—पं० पद्म सिंह शर्मा ६—कविवर पं० नाथूराम 'शंकर' ७—पं० गौरी शंकर हीराचन्द ओझा ८—राजा रामपाल सिंह (काला काँकर) आदि महानुभावों के कुछ पत्र मैंने पढ़े।

महर्षि मालवीय ने उस समय 'अभ्युदय' निकाला था। उस में सहयोग देने के लिए द्विवेदी जी को जो लम्बा पत्र उन्हों ने लिखा था, उस से उस समय की साहित्यिक तथा राजनैतिक गति-विधि पर पूरा प्रकाश पड़ता है।

गुप्त जी का बड़ा लम्बा पत्र-व्यवहार है। 'हरिऔध' जी का जो पत्र मैं ने पढ़ा, उस से जान पड़ा कि शब्द-विमर्श में भी वे शक्ति रखते थे। एक शब्द-प्रयोग पर चर्चा है। महाकवि ने अपने पक्ष में अच्छे तर्क दिए हैं और फिर अन्त में द्विवेदी जी का ही पक्ष सही मान लिया है।

बाबू श्यामसुन्दर दास जी का एक पत्र पढ़ा, जिस से मालूम हुआ कि जब आप ने 'साहित्यालोचन' लिखा, तो संशोधन कर देने के लिए आचार्य द्विवेदी से प्रार्थना की। द्विवेदी जी ने स्वीकार कर लिया और पुस्तक का काफी अंश देख कर संशोधित कर दिया। परन्तु इसी समय उन्हें किसी तरह

यह खबर मिली कि बाबू साहब इधर-उधर कुछ दूसरी तरह की बातें करते हैं ! द्विवेदी जी ने इस पर पुस्तक का संशोधन रोक दिया और बाबू साहब को पत्र लिखा। द्विवेदी जी के ऐसे ही किसी पत्र के उत्तर में बाबू साहब का यह पत्र है, जो मैं ने पढ़ा। इस में आप ने बड़ी ही विनम्रता से लिखा है कि आप को गलत सूचना दी गई है। अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट कर के पुनः संशोधन करने की प्रार्थना बाबू साहब ने की है।

एक पत्र मैं ने श्री खानखोजे महोदय का पढ़ा, जो अब विज्ञान के 'डाक्टर' हैं। पूरा नाम मैं भूल गया। ये सब संस्मरण मैं स्मरण के ही सहारे लिख रहा हूँ। यह पत्र अमरीका के किसी विश्वविद्यालय से लिखा गया था। पत्र बहुत लम्बा है, और बड़े काम का है। इस में यह भी लिखा है कि कृषि-विज्ञान आदि के पारिभाषिक शब्द हिन्दी में संस्कृत धातुओं से किस तरह बनाने चाहिए। पत्र के प्रारम्भ में स्वामी सत्यदेव जी का जिक्र है। लिखा है कि उन्हीं की प्रेरणा से मैं राष्ट्रभाषा हिन्दी की ओर झुका हूँ ; वैसे मेरी मातृभाषा मराठी है। खानखोजे महोदय उस समय कृषि-विज्ञान के छात्र थे और इसी विषय पर कोई लेख "सरस्वती" को आप ने भेजा था। पत्र में लिखा है कि "गरीब हूं, किसी तरह श्रम से काम चला लेता हूं। लेख को सचित्र करने के लिए चित्र कहाँ से लाऊं ! पुस्तकों से ही कुछ चित्र फाड़ कर भेज रहा हूं—ब्लाक बनवाने के लिए।"

बाबू रामलाल वर्मा

द्विवेदी जी के कागज-पत्रों में कुछ ऐसी सामग्री भी एक जगह मिली, जिस से काशी के बाबू रामलाल वर्मा के बारे में बहुत कुछ मालूम हुआ। उक्त वर्मा जी 'साहित्यिक' भी थे और 'प्रकाशक' भी; पुस्तक-विक्रेता भी। प्रायः उपन्यासों का काम करते थे। कभी-कभी बिना किसी के मँगाए ही वी० पी० भेज दिया करते थे! सौ वी० पी० भेजने पर पचीस भी छूट आएं, तो नफा ही है। परन्तु एक बार बेचारे फँस गए।

पूरा किस्सा यों है, जो सामग्री से मालूम हुआ—

द्विवेदी जी जिस मकान में जुही (कानपुर) में रहते थे, उसी के एक भाग में कोई पण्डित जी भी रहते थे। पण्डित जी का एक नौकर था, जो कदाचित् द्विवेदी जी की भी सेवा करता था। द्विवेदी जी प्रयाग गए हुए थे और वे पण्डित जी भी कहीं बाहर गए थे। केवल नौकर घर पर था। उसी समय पण्डित जी के नाम काशी के बाबू रालाल वर्मा ने एक उपन्यास वी० पी० से भेज दिया। नौकर ने वी० पी० छुड़ा ली, यह समझ कर कि मालिक ने मँगाई होगी। कुल १।।।=) की वी० पी० थी।

जब पण्डित जी आए, तो वह वी० पी० उन को दी गई। खोलने पर एक उपन्यास निकला; सो भी, कुरुचि-पूर्ण! नौकर ने कह दिया कि मैं ने यह समझ कर वी० पी० छुड़ा ली कि आपने मँगाई होगी। पण्डित जी बेचारे क्या करते?

जब द्विवेदी जी आए, तो सब किस्सा उन के सामने रखा गया। द्विवेदी जी व्यवहार में बड़े खरे थे। उन्होंने यह मामला अपने हाथ में ले लिया और पुस्तक वी० पी० से बाबू रामलाल वर्मा के नाम काशी भेज दी। एक पत्र भी पृथक् भेजा, जिस में लिखा कि आप गन्दे उपन्यासों से देश को गन्दा कर रहे हैं, और फिर बिना मंगाए ही वी० पी० भेज देते हैं! कितना बुरा काम है! उन्होंने लिखा कि मेरे पड़ोसी को आप ने ऐसी वी० पी० भेज दी है। सो, मेरी भेजी हुई वी० पी० कृपा कर छुड़ा लीजिए गा। द्विवेदी जी ने यह भी लिख दिया था कि वी० पी० फार्म पर जो कुछ छपा है, उसे पढ़ लीजिए। बिना मंगाए वी० पी० भेजना जुर्म है।

बाबू रामलाल वर्मा ने वी० पी० लौटा दी। तब द्विवेदी जी ने इस विषय पर एक लेख लिख कर बंबई के 'श्रीवेकंटेश्वर-समाचार' में छपवाया, जिस में अपराधी का नाम-गाम छापे बिना उपर्युक्त घटना का उल्लेख किया। उन के लेख की कतरन मैं ने पढ़ी। द्विवेदी जी यहीं चुप न हो गए। उन्हों ने पोस्ट-मास्टर जनरल को लिखा। उक्त अधिकारी ने सब जाँच-पड़ताल कर के बाबू रामलाल वर्मा से १।।।=) वसूल करवाए और द्विवेदी जी की ही मार्फत पण्डित जी को भिजवाए। पोस्ट-मास्टर जनरल ने एक धन्यवाद का पत्र भी द्विवेदी जी को भेजा, जो सामग्री में मौजूद है। पत्र में लिखा है कि देश की ये बुराइयाँ अवश्य दूर हो जाएं, यदि आप

जैसे कर्मठ लोग कुछ इसी तरह सामने आएं। इस के बाद फिर उक्त वर्मा जी काशी छोड़ कर कलकत्ते चले गए और वहाँ 'आर० एल० वर्मन' के नाम से काम शुरू किया। फिर उन्होंने वैसा काम कभी नहीं किया और खूब रुपया भी कमाया, पुस्तकों से और दवाओं से।

आचार्य द्विवेदी ने जो अपना वसीयतनामा लिखा था, वह भी इस सामग्री में है।

सामग्री का उचित उपयोग

इस प्राप्त सामग्री का उचित उपयोग यह है कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कागज-पत्रों के ब्लाक बनवा कर छपाए जाएं। शेष महत्त्वपूर्ण सामग्री का साधारण प्रकाशन हो। पाण्डु-लिपियों का संशोधन द्विवेदी जी ने कहाँ किस तरह किया है; इसे बताने के लिए एक-एक पृष्ठ का या उस के अंश का ब्लाक बनना जरूरी है। इस तरह यह सामग्री नमूने के रूप में हिन्दी-संसार के सामने आ जाएगी। फिर जिन्हें अधिक छानबीन करनी हो गी, वे 'सभा' में जा कर सब प्रत्यक्ष देखने का प्रयत्न करें गे।

खैर, कुछ भी हो, सामग्री प्रकट हो गई। इस काम से मेरा ऋषि-ऋण अवश्य हलका हुआ हो गा। अब आगे 'सभा' जाने और हिन्दी-संसार जाने।

कुछ दिन हुए, यह सामग्री 'सभा' ने 'भारत कला-भवन' को दे दी और उस के साथ ही वह सब काशी-विश्वविद्यालय

पहुँच गयी थी। परन्तु फिर 'सभा' के अधिकारियों ने कुछ सोचा, वह सब सामग्री वापस लाए और उसे सुरक्षित रखने के लिए सुन्दर 'सेफ़' खरीदे। अब वह वहाँ सुरक्षित है। कभी उपयोग भी हो गा ही।

'सम्मेलन' का अबोहर-अधिवेशन

द्वितीय उन्मेष में ही मैं ने अ० भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अबोहर-अधिवेशन देखा। 'सम्मेलन' तथा 'कांग्रेस' से मैं अपने जीवन के प्रारम्भ में ही जुड़ गया था। इस समय तक बहुत से अधिवेशन देख चुका था और 'स्थायी समिति' में मुद्दत से काम करने का सौभाग्य भी प्राप्त कर चुका था; परन्तु अबोहर-अधिवेशन का महत्त्व मेरी दृष्टि में सर्वोपरि है। उसी अधिवेशन ने राष्ट्रभाषा की समस्या हल की।

बात यह हुई कि सन् १९३०–३४ के राष्ट्रीय आन्दोलन के बाद महात्मा गान्धी 'हिन्दुस्तानी' भाषा के समर्थक हो गए थे। 'हिन्दुस्तानी' एक तरह की सरल उर्दू या संस्कृत के प्रभाव से रहित हिन्दी समझिए, जिस में फारसी आदि के वे शब्द भी सम्मिलित हैं, जिन्हें हिन्दी ने ग्रहण नहीं किया है। परन्तु भाषा के स्वरूप-भद से भी बढ़ कर बात यह थी कि दोनों (नागरी तथा अरबी) लिपियों को 'राष्ट्रीय लिपि' का पद दिया जा रहा था! महात्मा जी के कारण 'हिन्दुस्तानी' की चर्चा बहुत बढ़ गई थी; यहाँ तक कि श्री जैनेन्द्र कुमार जैसे लोग 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन करने लगे थे, जिन की

'अतिसंस्कृतमयी' हिन्दी का मजाक हम लोग उड़ाया करते थे। जैनन्द्र जी के ग्रन्थों में भाषा का स्वरूप देखिए और फिर 'सम्मेलन' के जयपुर-अधिवेशन पर उन की दी हुई 'स्पीच' पढ़िए। जान पड़ेगा कि हिन्दी में दो जैनन्द्र हुए हैं! परन्तु साहित्यिक जनों में 'जैनेन्द्र' अधिक न हुए। हाँ, राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा रखनेवाले लुढ़क-पुढ़क गए थे। जन्म भर हिन्दी की सेवा जिन्हों ने की, जिन का जीवन-व्रत था हिन्दी की सेवा करना, वे भी 'हिन्दुस्तानी' की बात करने लगे थे। 'सम्मेलन' के मंच को 'साम्प्रदायिक' कहा जाने लगा था। उस बड़े भारी तूफान में राजर्षि टंडन हिमालय की तरह अडिग रहे। बाबू सम्पूर्णानन्द ने भी इस समय अपना तेजस्वी रूप प्रकट किया और खुल कर हिन्दी का ऐसा समर्थन किया कि मिनिस्टरी भी दावँ पर लगा दी थी। प्रान्त में कांग्रेसी मंत्रि-मण्डल बनते ही 'हिन्दुस्तानी'-आन्दोलन ने जोर पकड़ा था। 'हिन्दुस्तानी'-पक्ष के प्रमुख सेनापति थे काका कालेलकर और श्री सुन्दर लाल जी। प्रयाग-विश्वविद्यालय के प्रमुख प्राध्यापक डा० ताराचन्द भी मैदान में आ कूदे थे और अंग्रेजी-उर्दू अखबारों में बराबर लेख लिख-लिख कर 'हिन्दुस्तानी' को ऐसा बल दे रहे थे कि देश भर के 'शिक्षित' लोग हिन्दी के विरोधी बन जाते, यदि उसी विश्वविद्यालय के 'वाइस चांसलर' डा० अमरनाथ झा महोदय हिन्दी का पक्ष ले कर मैदान में न उतर आते। डा० झा महोदय के लेख

जब हिन्दी के पक्ष में एक के बाद एक लेख बराबर छपने लगे, तब पाँसा फिर पलट गया। 'हिन्दुस्तानी' ने डा० ताराचन्द का जो नहला फेंका था, उस पर हिन्दी ने यह डा० झा के रूप में दहला मारा। विश्वविद्यालयों की बिगड़ती हुई हवा सँभल गई। यह अचरज की बात है कि इसी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष (और 'सम्मेलन' के प्रमुख कार्यकर्ता) डा० बाबूराम सक्सेना जैसे लोग उस समय चुप रहे! इस तरह चुप हो जानेवाले हिन्दी-हितैषी लोग बहुत अधिक उस समय थे। कोई जानता न था कि क्या हो गा! बाबू सम्पूर्णानन्द के अनन्तर हिन्दी-पक्ष में जिन का नाम लिया जा सकता है, वे हैं श्री क० मा० मुंशी, जो इस समय हमारे उत्तर प्रदेश के राज्यपाल हैं। आप ने भी हिन्दी का अच्छा पक्ष लिया था। बाकी सब दब गए थे। डा० राजेन्द्र प्रसाद तो हिन्दीमय हैं; परन्तु महात्मा जी के प्रति अनन्य श्रद्धावान् होने के कारण वे भी 'हिन्दुस्तानी'—दल में हो गए थे! डा० ताराचन्द जी को तो बहुत दिन बाद अपनी सेवाओं का पुरस्कार मिला, जब कि स्वराज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हमारे शिक्षा-मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने उन्हें अपने विभाग के प्रमुख सचिव-पद पर बैठाया; परन्तु डा० अमरनाथ झा को हिन्दी-जगत् ने उसी समय सिर-माथे ले कर सर्वोपरि सम्मान दे दिया था; 'सम्मेलन' के अबोहर-अधिवेशन पर—

डा० झा सभापति हुए

इसका महत्त्व इसलिए बहुत बढ़ कर है कि डा० राजेन्द्र प्रसाद को चुनाव में हरा कर डा० झा विजयी हुए थे। सच पूछो तो डा० प्रसाद पर डा० झा की यह विजय न थी, 'हिन्दुस्तानी' पर हिन्दी की विजय थी। इससे पहले डा० राजेन्द्र प्रसाद एक बार 'सम्मेलन' के और एक बार 'कांग्रेस, के अध्यक्ष हो चुके थे। हम लोगों का सम्मान उनके प्रति बराबर वैसा ही था ; परन्तु हिन्दी को कैसे छोड़ सकते थे ? नागरी के साथ अरबी लिपि को भी राष्ट्र के बच्चों पर सदा-सर्वदा के लिए थोप देना इष्ट न था। इस लिए, मेरे जैसे लोगों ने भी डा० राजेन्द्र प्रसाद के विरुद्ध डा० अमरनाथ झा का समर्थन किया। खूब धूमधाम से सम्मेलन हुआ। 'हिन्दुस्तानी' के समर्थकों ने देख लिया कि राष्ट्र क्या चाहता है। उन की हिम्मत पस्त हो गई! अबोहर काका कालेलकर पहुंचे थे ज़रूर ; परन्तु बहुत अनमने। साथ में एक शिष्य और दो शिष्याएं। राजर्षि टंडन और बाबू सम्पूर्णानन्द जी जिस कमरे में ठहरे थे, उस से अलग, दूसरी पंक्ति के एक सामने वाले कमरे में, वे ठहरे थे। 'सम्मेलन' में कोई खास दिलचस्पी इस दल ने न ली।

यों हिन्दी की विजय तो हुई ; परन्तु काका जी के अबोहर पहुंचने पर और उन की बातें सुनने पर मुझे ऐसा लगा कि 'सम्मेलन' में अभी एक टक्कर और हो गी। मेरे मन में आया कि काका आदि 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक 'अंजुमन-ए-

तरक्की-ए-उर्दू' में क्यों नहीं जाते? उस 'प्लेटफार्म को ही 'हिन्दुस्तानी' के लिए क्यों नहीं अपनाते? 'सम्मेलन' में रोज का टंटा अच्छा नहीं। मेरे मन में आया कि यदि 'हिन्दुस्तानी' का मंच एक तीसरा बन जाए, 'सम्मेलन' तथा 'अंजुमन के बीच में, तो बहुत अच्छा हो। परन्तु यह सलाह किसे दी जाए! कैसे दी जाए!

घर वापस लौटते समय यही उधेड़-बुन रही। घर आ कर एक शिगूफा मैं ने छोड़ा। अखबारों में नीचे लिखे आशय का मजमून छपने भेज दिया--

'हिन्दुस्तानी-प्रचार सभा' की स्थापना

वर्धा की एक चिट्ठी

वर्धा से एक मित्र ने मुझे एक पत्र द्वारा सूचना दी है कि काका कालेलकर आदि राष्ट्रवादी विद्वान्--'हिन्दुस्तानी' का प्रचार तथा समर्थन करने के लिए बहुत जल्दी 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' नाम से एक अखिल भारतीय संस्था बनाने वाले हैं, जो 'सम्मेलन' तथा 'अंजुमन' के मध्य में काम कर के दोनों को किसी समय आत्मसात् कर ले गी।"

पता नहीं कि मेरा यह मजमून काका कालेलकर आदि ने पढ़ा, या मेरे साथ-साथ उन के मन में भी स्वत: वैसा विचार पहले ही पैदा हो चुका था; कोई डेढ़-दो मास के भीतर ही खबर छपी कि वर्धा में 'हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा' की स्थापना की गई है। मुझे बड़ी खुशी हुई कि 'सम्मेलन' एक झगड़े से बचा।

'सम्मेलन' में सदा ही गुटबन्दी रही है और कांग्रेस में तो गुटबन्दी ने घृणित से घृणित रूप समय-समय पर प्रकट किया है; परन्तु यह सब गन्दगी नाक दबाए सहता रहा, वहाँ काम करता रहा। राष्ट्रभाषा के लिए तथा राष्ट्र-स्वातंत्र्य के लिए खुल कर सब से आगे काम करने वाली संस्थाएं इन के अतिरिक्त और थीं नहीं कि वहाँ चला जाता! परन्तु स्वराज्य मिलते ही कांग्रेस को और हिन्दी राष्ट्रभाषा बनते ही 'सम्मेलन' को नमस्कार कर लिया! एक बोझ सिर से उतर गया। 'सम्मेलन' के भी संस्मरण बड़े मनोरंजक हैं। कभी दिए जाएँ गे।

'हिन्दुस्तान' की प्रतियाँ मैं ने जलाईं

साहित्यिक जीवन के इस उन्मेष का जब अन्तिम सिरा आया, तो एक काम मैं ने ऐसा किया, जिस के उल्लेख से इस जन की उद्दण्ड प्रकृति का पता आप को चल जाए गा। वह काम यही है कि दिल्ली के 'हिन्दुस्तान' अखबार की पाँच प्रतियाँ खरीद कर मैं ने जला दीं, राख को पावों से छितरा दिया और उस पर थूक भी दिया! इस पत्र पर मैं ने इतना रोष क्यों प्रकट किया? आज तक अन्य किसी भी पत्र-पत्रिका पर कभी भी इतना गुस्सा मेरे मन में आया नहीं है। मेरी जलन का कारण 'हिन्दुस्तान' का एक सम्पादकीय मन्तव्य था, प्रमुख 'सम्पादकीय'। शीर्षक था—

"देशद्रोही सुभाष !"

सम्पादकीय विचार क्या था, नौकरी का घिनौनापन था। इसी अखबार ने किसी समय श्री सुभाषचन्द्र बोस की राष्ट्रभक्ति के प्रति सिर झुकाया था, प्रशंसा के गीत गाये थे। नेताओं में मतभेद होने पर वे आपस में उलझें-सुलझें, अखबारों को अपना सन्तुलन न खो देना चाहिए। हमें तो यह देखना चाहिए कि कौन-सी नीति ठीक है। जो नीति अच्छी न जान पड़े, उस का विरोध करो; परन्तु नेता के प्रति सम्मान रख कर। न जाने किस समय किस की जरूरत पड़ जाए। उस समय महात्मा गान्धी श्री सुभाषचन्द्र बोस की नीति का कड़ा विरोध कर रहे थे और इसी लिए अखबार वाले बोस की उपेक्षा तक करने लगे थे; परन्तु उन्हें 'देशद्रोही' देश के किसी भी अन्य समाचार-पत्र ने न कहा था। 'हिन्दुस्तान' के प्रधान सम्पादक उस समय श्री सत्यदेव विद्यालंकार नाम के कोई सज्जन थे। शायद अपने मैनेजिंग डाइरेक्टर (महात्मा गान्धी के सुपुत्र) श्री देवदास गान्धी को प्रसन्न करने के लिए ही वह वैसा शीर्षक दिया हो और वह अनर्गल प्रलाप किया हो। मालूम नहीं, श्री गान्धी उन से प्रसन्न हुए, या अप्रसन्न ! मैं यह भी नहीं कह सकता कि चाटुकारिता ही उस लेख का प्रयोजन था। सम्भव है, सम्पादक जी के अपने विचार ही उस समय वैसे हो गए हों। मन ही तो ठहरा ! परन्तु मैं आपे से बाहर हो गया और यदि उस समय विद्यालंकार जी कनखल में होते, या मैं दिल्ली

होता, तो जरूर हम दोनों में मारपीट तक हो जाती। मैं उबल पड़ा था। सो, उस अखबार की पाँच प्रतियाँ उस तरह जला कर ही शान्त हो गया और यह समाचार अखबारों में भी छपा दिया था।

'हिन्दुस्तान' के उस सम्पादकीय लेख में श्री सुभाषचन्द्र बोस के उस विचार को ही लक्ष्य बनाया गया था, जो उन्हों ने बम्बई की एक सभा में शराब-बन्दी के सम्बन्ध में प्रकट किया था। बोस ने यही कहा था कि शराब-बन्दी के सम्बन्ध में जो नीति अपनाई जा रही है, उस में दूरदर्शिता का अभाव है और निश्चय ही किसी समय इसे वापस लेना पड़े गा। बस, बोस के इतना कहने पर ही 'हिन्दुस्तान' उस तरह भड़क उठा था।

इस समय श्री सुभाषचन्द्र बोस को कांग्रेस-अध्यक्षता छोड़ देने के लिए विवश होना पड़ा था और उन्हों ने एक पृथक् दल 'फार्वर्ड ब्लाक' नाम से स्थापित कर लिया था, जिस की नीति को ले कर वे देश का दौरा कर रहे थे। आगे उन की बड़ी अवज्ञा कांग्रेस-संगठन में की गई, जिस से मेरे जैसे लोग अत्यन्त दुखी हुए। इस से पहले जो इस संगठन में लोकमान्य तिलक की तथा लाला लाजपत राय आदि की उपेक्षा-दुर्दशा की गई थी, वह भी आँखों के सामने आई और महर्षि मालवीय को जो दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर किया गया था, वह सब आँखों देखी चीज थी। समझ में सब आ रहा था; परन्तु दुश्मन (अंग्रेज) सिर पर लदा था; इस लिए अपने एक-

मात्र इस राजनैतिक संगठन का विश्लेषण करना उस समय उचित न था--'नं बुद्धिभेदं जनयेत्।' स्वराज्य प्राप्त हो जाने पर मैं ने 'मि० ह्यम की परम्परा' 'स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति--श्री सुभाषचन्द्र बोस' तथा 'कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास' लिख कर वह सब भेद प्रकट जरूर किया।

'इदं कविभ्यः पूर्वेभ्योः नमोवाकं प्रशास्महे'

तृतीय उन्मेष

१९४१-५०

वस्तुतः इसी तृतीय उन्मेष के उत्तरांश को मेरे साहित्यिक जीवन में निर्माण का श्रीगणेश समझना चाहिए; क्योंकि इस समय देश स्वतंत्र और हिन्दी भी राष्ट्रभाषा उद्घोषित हो चुकी और मेरे साहित्यिक विचार भी परिपक्व हो चुके; तब मैंने नमूने के रूप में कई छोटी-छोटी पुस्तकें लिख कर हिन्दी-जगत् को भेंट की। सोचा, अब 'कांग्रेस' तथा 'सम्मेलन' के काम से छुट्टी मिली और अब स्वकीय 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र-चिन्ता प्रवर्तताम्'। मेरी इन चीजों की क्या स्थिति-गति हुई, यह बाद में बताया जाए गा; क्योंकि यथाक्रम चलना ही ठीक है। हाँ, स्वराज्य-प्राप्ति से पहले 'व्रजभाषा का व्याकरण' जरूर लिखा गया था, जो अपने विषय का आधार भत ग्रन्थ है। इस की भी एक कहानी है। परन्तु इस से पहले की कुछ घटनाएँ उल्लेखनीय हैं।

काश्मीर में हिन्दी-प्रचार

अबोहर-'सम्मेलन' में एक अच्छी खासी धनराशि काश्मीर में हिन्दी-प्रचारार्थ निकाली गई थी। मैं सरकारी नौकरी से अलग था ही और यथा-तथा घर-गृहस्थी का खर्च चला रहा था। राजर्षि टंडन का ध्यान चारो ओर रहता है।

में 'सम्मेलन' की ओर से काश्मीर में हिन्दी-प्रचार के लिए नियुक्त किया गया। गरमी के दिन थे; घर के खर्च से चिन्ता-राहित्य, हिन्दी की सेवा और काश्मीर की सैर! और चाहिए क्या? इधर-उधर बात करने से मालूम हुआ कि काश्मीर में बरसात के दिन अच्छे रहते हैं--खूब फल खाने को मिलते हैं। तब तक टंडन जी की आज्ञा हुई कि पहले पंजाब में काम करो, तब काश्मीर जाओ। पंजाब में काम करने को यह दिया कि आर्यसमाज, सनातनधर्म-सभा तथा देव-समाज आदि के स्कूलों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी कराया जाए। 'लोकसेवक-मण्डल' (लाहौर) के श्री अचिन्त्यराम जी मुझे जानते थे; क्योंकि अबोहर-अधिवेशन के तुरन्त बाद राजर्षि टंडन के साथ मैं वहाँ गया था और कई दिन तक ठहरा था। फिर भी टंडन जी ने एक परिचय-पत्र लिख दिया था, जिस में यह भी लिखा कि वाजपेयी के काम में पूरा योग-सहयोग देने की जरूरत है। टंडन जी इस संस्था के तब भी अध्यक्ष थे।

लाहौर पहुंच कर मैंने उसी ऐतिहासिक कोठी के एक कमरे में डेरा लगाया, जो राष्ट्रीय दृष्टि से हमारा एक तीर्थ है; क्योंकि लाला लाजपत राय के रहने की वह कोठी है। जब लाला जी लाहौर में वकालत करते थे, तब इसी कोठी में रहा करते थे, जो डी० ए० वी० कालेज के सामने ही है। जब लाला जी ने 'लोकसेवक-मण्डल' की स्थापना की, तो यह कोठी उसी को दे दी थी। इसी कोठी से सटी हुई वह

भव्य इमारत है, जो बाद में लाला जी की स्मृति में बनवाई गई थी। इसी इमारत में 'मण्डल' के सब कार्यालय आदि थे। जिस कोठी में उस समय मैं ठहरा, उसी में बैठकर किसी समय सरदार भगतसिंह ने शिक्षा ग्रहण की थी। सन् २०—२४ के आन्दोलन में या उस के बाद देश भर में कई बड़ी संस्थाएं राष्ट्रीय पद्धति पर शिक्षा देने के लिए स्थापित हुई थीं—काशी-विद्यापीठ, गुजरात-विद्यापीठ, तिलक-विद्यापीठ आदि। उसी समय लाला जी ने 'नेशनल कालेज' की स्थापना की थी, जो व्यवहारतः एक विश्वविद्यालय के रूप में था। इस की अपनी परीक्षाएं होती थीं। 'चाँद' के सुप्रसिद्ध सम्पादक पं० नन्द किशोर तिवारी इसी संस्था के 'बी० ए०' हैं। शायद इस कमरे में भी सरदार भगतसिंह बैठ कर कभी पढ़े हों, जिस में मैं रह रहा हूँ; यह अनुभव कर के सुख हो रहा था।

अब हिन्दी का काम शुरू किया, जिस का पहले कभी अनुभव न था। उन स्कूल-कालेजों के संचालक बड़े-बड़े 'राय बहादुर' आदि थे। मेरा उन पर कोई प्रभाव न पड़ता था। रंग-रूप, वेश-विन्यास, बोलचाल, सभी में भदरंग था। गोस्वामी पं० गणेशदत्त जी से बातचीत की; पर वहाँ भी दाल न गली। 'देवसमाज' के केन्द्र में गया, तो उन्हों ने बहुत आशा दिलाई; पर इस समाज की संस्थाएं बहुत न थीं। मैं बहुत निराश हुआ और पन्द्रह-बीस दिन में अनुभव कर लिया कि यह काम मुझ से हो गा नहीं। तब काश्मीर

की सैर में 'सम्मेलन' जैसी राष्ट्रीय संस्था का पैसा व्यर्थ क्यों खर्च किया जाए ; सोचा। टंडन जी को चिट्ठी लिखी कि 'मुझ से यह काम न होगा' मेरा कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है—शरीर तथा रहन-सहन ऐसा नहीं कि 'राय बहादुरों' पर कुछ प्रभाव पड़े। मैं अनुभव कर रहा हूं कि मेरे द्वारा खर्च किया गया पैसा व्यर्थ जाए गा ; इस लिए काश्मीर जाने की इच्छा नहीं है। मुझे वापस आने की आज्ञा दीजिए।'

राजर्षि ने इस पत्र का उत्तर कुछ गुस्से में दिया, मुझे झिड़का भी और धैर्य से काम करने की सलाह दी। लिखा था—"मुझे विश्वास है, तुम्हारे द्वारा खर्च किया गया पैसा व्यर्थ न जाए गा। फल देर में ही निकलता है। तुम तो बीज डाल रहे हो, फल तुरन्त कैसे दिखाई दे गा? काम करो।" प्रभाव के बारे में उनका कहना था—'मेरा शरीर क्या बहुत भारी-भरकम है? क्या मेरा रहन-सहन तड़क-भड़क का है?' टंडन जी ऋषि हैं और मैं एक साधारण व्यक्ति, इस भेद को समझाने के लिए मैं ने बहस का कोई उत्तर न दिया और कागज-पत्रों का बस्ता बाँध 'सम्मेलन' वापस पहुँचा। राजर्षि बहुत नाराज हुए। फिर दूसरा काम बताया, 'सम्मेलन' के अगले अधिवेशन के प्रबन्ध में मदद करने के लिए—

'भैणी साहब' जाओ

'भैणी साहब' लुधियाना जिले में नामधारी सिक्खों का अत्यन्त प्रतिष्ठित गुरुद्वारा है, जहाँ से 'सम्मेलन' को अगले

अधिवेशन के लिए अबोहर में निमंत्रित किया गया था। निमंत्रण सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ था, यह सोच कर कि इस का प्रभाव सिख-समुदाय पर बहुत अच्छा पड़ेगा। साधारण सिख लोग उस समय उर्दू से प्रेम करते थे, हिन्दी से बिदकते थे। इस सम्बन्ध में एक अनुभव लायपुर में हुआ--जब इस प्रचार-यात्रा में 'लाजपतराय-भवन' (लाहौर) से मैं दो दिन के लिए लायपुर गया था। उस समय श्री हंसराज एम० ए० वहाँ गवर्नमेंट कालेज में अध्यापक थे और हिन्दी-प्रचार का अच्छा काम कर रहे थे। प्रोफेसर साहब ने गवर्नमेंट कालेज में मेरा व्याख्यान कराया। सभा में हिन्दू-मुसलमान, सिख, ईसाई आदि सभी तरह के छात्र थे, कुछ प्रोफेसर भी। हिन्दी का समर्थन मैं ने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से किया; परन्तु सिखों के सम्बन्ध में कुछ धार्मिक पुट भी दिया। मैं ने कहा--"सिख लोग हिन्दी नहीं पढ़ते हैं; इसी लिए गुरु-ग्रन्थ साहब का अर्थ करना भी भूले जाते हैं; क्यों कि गुरुओं की वाणी अस्सी प्रतिशत हिन्दी है।" इस पर एक उच्च श्रेणी का छात्र खड़ा हो गया और बोला--'पंडित जी, जबान का मजहब से क्या ताल्लुक?' मैं ने कहा, बैठिए सरदार जी, सुनिए। देखिए, गुरुगोबिन्द सिंह को यदि कोई 'उस्ताद गोबिन्द सिंह' कहे, या 'गुरु-ग्रन्थ' को 'उस्ताद की किताब' या 'किताबे उस्ताद' आदि कुछ कहे, तो आप को कैसा लगेगा? 'अमृत' को 'आबेह-यात' आप कहेंगे क्या, जिसे 'छक कर' सिख होते हैं?" इसपर उस नौजवान सिख का चेहरा उतर गया और उसने हिन्दी का

विवशतः मूक-समर्थन किया। यही बात आम तौर पर सिखों में थी, अब भी है। केवल नाम-धारी सिख कुछ हिन्दी की ओर आकर्षित हुए थे, राष्ट्रीय दृष्टिकोण को ले कर। सिखों का यह वर्ग राष्ट्रीयता को ले कर ही प्रादुर्भूत हुआ था और इस देश में सब से पहले इन्हीं (नामधारी) सिखों ने अपने गुरु के आदेश से प्रवलतम असहयोग अंग्रेजी राज से किया था। इसी परम्परा का प्रभाव था कि 'भैणी साहब' में 'सम्मेलन' निमंत्रित हुआ था। परन्तु 'भैणी साहब' एक छोटा सा गाँव है—रेलवे स्टेशन (लुधियाना) से काफी दूर! वहाँ 'सम्मेलन' के विधि-विधान तथा इस की परम्पराओं की जानकारी किसी को थी नहीं। इसी लिए श्रद्धेय टंडन जी ने मुझे वहाँ भेजा था।

'भैणी साहब' का वातावरण एकदम सात्त्विक है। 'गुरु का लंगर' चौबीसो घंटे जारी रहता है, चाहे जो, चाहे जिस समय आए, भोजन उसके लिए तयार मिले गा।

मैं वहाँ पहुंच कर काम शुरू भी न कर पाया था कि—

सन् ४२ का आन्दोलन

शुरू हो गया! अगस्त की ९-१० तारीखों के अखबार तेज खबरों से धधक रहे थे। मेरा मन काबू से बाहर हो गया! कूद पड़ने को जी मचल पड़ा। गुरु जी ने कहा, देखिए तो सही कि आगे होता क्या है। परन्तु तारीख ११ तथा १२ को देश भर से गरम खबरें आईं। मैं ने गुरु जी से निवेदन

किया कि इस समय अधिवेशन होना सम्भव नहीं है और हुआ भी तो निर्जीव हो गा। और, मैं तो अब काम कर ही नहीं सकता। मेरा मन ही न लगे गा! मैं ने निवेदन किया कि काम रोक दो, फिर देखा जाए गा। उन्हों ने कहा कि यदि ऐसी बात है, तो आप ही 'सम्मेलन' को एक पत्र लिख दीजिए, जिस पर मैं भी हस्ताक्षर कर दूं गा।

गुरु जी की सलाह से 'सम्मेलन' को मैं ने पत्र लिखा कि "देश की वर्तमान स्थिति में 'सम्मेलन' के अधिवेशन की चर्चा जोर न पकड़े गी, लोगों का ध्यान दूसरी ओर हो गया है, इस लिए कुछ दिनों की प्रतीक्षा आवश्यक समझ कर कार्य स्थगित करना स्वागत-समिति जरूरी समझती है। सूचनार्थ निवेदन है।,,

इस पत्र पर गुरु जी के हस्ताक्षर कराए और मैं ने कहा कि आज १३ तारीख है, पर डाक तो निकल चुकी है, इस लिए १४ तारीख डाल दीजिए। कल (१४ तारीख को) रजिस्टरी लिफाफे में भेज दीजिए गा। गुरु जी ने अपने हस्ताक्षरों के नीचे तारीख डाल दी। फिर मैं ने हस्ताक्षर किए और १४ ता० डाल दी। लिफाफे पर पता लिख दिया। दूसरे दिन डाकखाने की तारीख-मुहर भी लगी ही हो गी। उस समय संध्या के ५ बजे थे। रात में एक ही गाड़ी पंजाब से हरिद्वार को चलती है, उसी के लिए मैं तुरन्त स्टेशन को चल पड़ा। हरिद्वार पहुंच कर मैं जिस बबंडर में फंसा, उस से मुझे उस '१३ तारीख' ने खूब बचाया, बड़ी मदद की। बात यह हुई कि--

१४ अगस्त को हरिद्वार भड़क उठा !

मैं सबेरे ही हरिद्वार पहुंचा। पलीता तयार था। दस बजते-बजते आग लग गई। वह सभी कुछ हुआ, जो देश में अन्यत्र हो रहा था ! गोली भी चली और उस में ऋषिकुल आयुर्वैदिक कालेज का एक छात्र तुरन्त ठंढा हो गया ! इसी कालेज के छात्रों ने सब से तेज काम किए थे। दो दिन तक हरिद्वार, कनखल तथा ज्वालापुर में 'स्वराज' इस अर्थ में रहा कि अंग्रेजी राज समाप्त था ! डाकखाने जले-भुने पड़े थे। सन्नाटा था। फिर फौज आई, आतंक बैठाया गया और गिरफ्तारियाँ हुईं। इस समय मेरी गिरफ्तारी इस धूमधाम से हुई थी कि घरवाले घबरा गए थे ! चारो ओर से घर को सशस्त्र पुलिस ने घेर लिया था और बड़े थानेदार खूब लैस हो कर 'बड़ी सावधानी से' मेरे कमरे में घुसे थे। न जाने क्यों इतना डर समा गया था ! थानेदार ठाकुर रामचन्द्र सिंह (जो इस समय सुपरिंटेण्डेंट हैं) मुझे बहुत पहले से जानते थे। वे जानते थे कि मैं अहिंसावादी कांग्रेसी नहीं हूं, तिलक तथा सुभाष के मार्ग का समर्थक रहा हूं। परन्तु केवल सिद्धान्त की बात थी। व्यवहार में सदा ही मैं पीछे रहा---फाँसी के लिए तयार न था ! कुछ तो मेरे विचार और कुछ देश की तथा स्थानीय वैसी स्थिति ; सो पुलिस को वैसी तयारी करनी पड़ी ! मेरे पास रखा ही क्या था ! तलाशी हुई और कुछ नहीं ! परन्तु श्रीमती जी, चि० मधुसूदन तथा चि० सावित्री, ये तीनो ही इस समय घबरा गए थे,

न जाने क्या हो गा ! परन्तु आँसू किसी ने भी नहीं निकाले, यह मेरे लिए गौरव की बात। चलते समय सँभलाने को था ही क्या ? कह दिया कि मायके चली जाना। मुझे तो विश्वास था कि ता० १४ की घटनाओं से मेरा सम्बन्ध किसी तरह जोड़ा नहीं जा सकता ; क्यों कि उस दिन मेरी उपस्थिति 'भेणी साहब' में प्रमाणित हो जाए गी !

खैर, मुझे पहले तो सीधे जेल भेज दिया, जहाँ मैं अपने नजरबन्द साथियों के साथ लगभग एक सप्ताह रहा। 'हवालात में बन्द करते' 'यदि मुकदमा चलाना होता' यह सोच कर निश्चिन्त हो गया, परन्तु इधर पुलिसवाले मुकदमा तयार कर रहे थे और घटना पर 'काम' करने वालों से पृथक् मेरा मामला रखना चाहते थे--प्रेरक होने का अपराध समझा ! एक दिन पुलिस का दस्ता जेल के फाटक पर पहुँचा। जेलर ने मुझे बुला कर कहा, पुलिस तुम्हें ले जाने के लिए खड़ी है, तयार हो जाओ। यह सुन कर मेरे साथी भी चिन्ता में पड़ गए--सब के चेहरे उतर गए ! परन्तु बस किसी का क्या था ! फाटक पर पहुँचा, तो पुलिस के हवलदार ने कहा--'दाहिना हाथ बाहर निकालो।' केवल एक हाथ में हथकड़ी पहनाई, परन्तु कलाई में वह बहुत ढीली बैठी ; तब रस्से से मजबूती लाई गई और तब मुझे फाटक के बाहर किया गया ! रुड़की ला कर उन हवालातियों के साथ बन्द कर दिया गया, जिन्हें 'काम' करते पकड़ा गया था। परन्तु मेरा मुक़दमा उन से पृथक् पहले ही पेश हो गया। पुलिस मामला साबित

न कर सकी, तब एक अपराध रह गया। कहा गया कि 'गैर कानूनी जमात (कांग्रेस) के ये डिक्टेटर रहे।' मजिस्ट्रेट ने इस पर मेरी सफाई माँगी, पर मैं ने स्वीकार कर लिया कि हरिद्वार यूनियन कांग्रेस का मैं डिक्टेटर बना था। स्वीकार करना ही था, लिखित प्रमाण था। मुझे अपने छूटने का कतई विश्वास न था। मुकदमा सुनने के लिए जो हरिद्वार-कनखल की भीड़ जमा थी, उस में मेरा लड़का चि० मधुसूदन भी खड़ा था, जो मुझे हथकड़ी पहने देख कर न जाने क्या सोच रहा हो गा!

मेरा अंग्रेजी-ज्ञान

मेरी अंग्रेजी भाषा वैसी ही है, जैसी कि टाँगेवालों की या रेल के कुलियों की होती है; परन्तु विश्वास इतना कि मुझे गलत कोई फँसा नहीं सकता है—बात समझ में आ जाए गी। किन्तु कभी-कभी यह विश्वास धोखा दे जाता है। जिस मुकदमे का उल्लेख पीछे हुआ है, उस में भी ऐसा ही हुआ। अंग्रेजी-ज्ञान की मेरी बात सुनकर अंग्रेज मजिस्ट्रेट, पुलिस-इंस्पेक्टर ठाकुर रामचन्द्र सिंह और कोर्ट-इंस्पेक्टर ही नहीं, वहाँ इकट्ठे सभी लोग हंस पड़े! बात यह हुई कि जब और अपराध साबित न हो सके और एक ही अपराध रह गया (जिसे मैं बड़ा समझता था; परन्तु अदालत ने बहुत हलका समझा) तो, जुर्माना ही काफी सजा समझी गई। मजिस्ट्रेट और पुलिस के आदमी आपस में अंग्रेजी में सलाह कर रहे थे कि

कितना जुर्माना वसूल हो जाए गा। पुलिस-इंस्पेक्टर ने मेरी हैसियत बताई होगी और कहा कि पचास रुपये खाट-खटोलों से वसूल हो जाएं गे। तलाशी में सब देख गए थे। घड़ी तथा मेज-कुर्सियाँ ध्यान में थीं, इस लिए पचास वसूल हो जाने की बात कही। मैं ने उन लोगों की बात-चीत में 'फिफ्टी'––'फिफ्टी' जो बार-बार सुना, तो यह समझा कि पुलिस-वाले यहाँ भी शैतानी कर रहे हैं और मजिस्ट्रेट को यह बता रहे हैं कि इसे ५०) रु० मासिक वेतन मिलता था! पचास से ऊपर वाले को तब 'बी' क्लास जेल में मजिस्ट्रेट की दी हुई मिलती थी। मैं ने समझा कि मुझे 'सी' में डालने के लिए पुलिसवाले अंग्रेजी में मेरा ५०) रु० मासिक वेतन बता रहे हैं! मैं गरम हो उठा और कड़क कर बोला––'फिफ्टी नहीं, सिक्सटी'! मेरी बात सुन कर मजिस्ट्रेट तथा पुलिसवाले चक्कर में पड़ गए––वे कुछ समझ न सके कि बात क्या है। मजिस्ट्रेट ने पुलिस-इंस्पेक्टर की ओर जिज्ञासा की दृष्टि से देखा। वह क्या उत्तर देता! तब उस ने मुझ से पूछा कि आप ने क्या समझ कर 'फिफ्टी नहीं, सिक्सटी' कहा है? मैं ने कहा कि "आप अदालत को धोखा दे रहे हैं।" इस पर मजिस्ट्रेट का कुतूहल और भी बढ़ गया। उस ने समझा कि मुलजिम वस्तुतः सत्य और अहिंसा का पुजारी है, इस लिए कह रहा है कि 'सिक्सटी' वसूल हो सकता है। ठाकुर रामचन्द्र सिंह मेरी अंग्रेजी की योग्यता जानते थे। उन्हों ने फिर पूछा––'हम ने क्या धोखा अदालत को दिया?'

—"यही कि मेरा वेतन आप पचास रुपए बता रहे हैं। यह धोखा नहीं है क्या ?"

"वेतन की बात नहीं, जुर्माने की बात है कि पचास रुपया वसूल हो सकते हैं।"

"हूँ ! यह बात है ! तब जुर्माना तो एक कौड़ी भी वसूल न होगा।'

इस पर मजिस्ट्रेट तुरन्त बोला—

"वो सब हो जायगा। अदालत उठने तक तुम को कैद की भी सजा दी गई।"

मुझे यों अदालत उठने तक वहीं बैठा रखा और पुलिस मेरा समान कुर्क करने चली गई। घर जा कर पुलिस तथा उस के सहायक लोगों ने मेरी स्त्री को समझाया कि पचास रुपए दे दो, तो वाजपेयी जी अभी छूट कर आ जाएं। यह भी कहा कि रुपये न हों, तो हम दे दें; फिर वाजपेयी जी से हम लेते रहें गे। परन्तु मेरी गृहणी ने यह कुछ स्वीकार न किया। तब पुलिस मेरा सामान कुर्क कर ले गई, जो लगभग डेढ़ सौ का था। कनखल-हरिद्वार में किसी ने नीलाम् पर 'बोली' ही न बोली, तब वह सब रुड़की लद गया था। वहाँ नीलाम हुआ हो गा।

उधर अदालत उठने से पहिले ही मैं ने अपने लड़के (चि० मधुसूदन) से कहा कि "गाँधी आश्रम से एक झंडा जा कर मोल ले आओ और मकान पर लहराओ, मैं आ रहा हूं।" उस समय तक गाँधी-आश्रम सरकारी प्रबन्ध में न गया था।

मेरे घर पर जो तिरंगा झंडा लहरा रहा था, उसे गिरफ्तारी के समय ही पुलिस वाले उतार लाए थे ! मैं छूट कर जब घर पहुंचा , तो झंडा लहराया जा रहा था, लोग खड़े देख रहे थे। उस समय कनखल , हरिद्वार तथा ज्वालापुर में केवल एक ही झंडा हवा में लहराता था। लोग कुतूहल, भय तथा उत्साह से देखते थे।

'सम्मेलन' का वह अधिवेशन ?

अब मुझे शान्ति थी, अपना भाग अदा हो चुका था। अब दूसरा काम सोचा। 'सम्मेलन' का अधिवेशन जरूर होना चाहिए। कुछ जागरण ही हो जाए गा। परन्तु जनता में एकदम सन्नाटा तब तक छा गया था। 'भेणी साहब' अधिवेशन न कर सका। तब लाहौर में 'प्रान्तीय सम्मेलन' वालों ने करना चाहा ; किन्तु फिर वे भी आगे न बढ़ सके ! तब लायलपुर के साहित्यिकों ने कहा कि यहाँ हो गा ; किन्तु आगे वे भी चुप हो गए। तब 'सम्मेलन' की कार्य-समिति ने तै किया कि यह अधिवेशन प्रयाग में ही कर लिया जाए। इस निश्चय पर 'स्थायी समिति' की मुहर लगनी थी, जिसकी बैठक बुलाई गई। मैं भी इस बैठक के लिए प्रयाग पहुंचा और पं० दयाशंकर दुबे के यहाँ ठहरा ! दुबे जी उस समय परीक्षा-मन्त्री थे। आप प्रयाग-विश्वविद्यालय में अर्थ शास्त्र के प्राध्यापक हैं, गाँधी जी के पूर्ण भक्त और पूर्ण सनातनी हैं। दारागंज में बहुत बढ़िया और विशाल आप का मकान है। उसी के नीचे के एक भाग में मेरे

पुराने मित्र और रिश्तेदार पं० भगीरथ प्रसाद दीक्षित रहते थे और ऊपर एक कमरे में साधुमना श्री भगवान् दास केला अपनी साधना में रहते थे। भोजन दुबे जी के यहाँ मैं ने किया, साथ में दीक्षित जी भी थे। बातचीत में 'सम्मेलन'—अधिवेशन की चर्चा आई। दुबे जी ने कहा कि अब तो अधिवेशन प्रयाग में ही होगा। मैं ने कहा भाई, यह तो ठीक न हुआ कि 'सम्मेलन' की पूछ-पछोड़ करनेवाला कहीं कोई न मिला और और यों उसे स्वयं ही अधिवेशन का प्रबन्ध प्रयाग में करना पड़ा! "और फिर गर्मी के दिन हैं। लोग भुन जाएं गे, जो बाहर से आएं गे।"—दीक्षित जी ने कहा। मैं ने भी अनुभव किया। तब दुबे जी ने कहा कि हरिद्वार में अधिवेशन कर लो न! उन्हों ने मजाक में कहा होगा। दीक्षित जी ने अनुमोदन कर दिया। मैं ने भी मजाक-मजाक में कह दिया कि हरिद्वार में ही कर लो, क्या हर्ज है! परन्तु उन लोगों ने बात पकड़ ली और फिर मुझे इस के लिए प्रेरित किया। उत्साह तो मुझ में था ही, प्रेम भी था, परन्तु पहले से कोई चर्चा न थी, यहाँ किसी से कोई सलाह कर के न गया था! एक विश्वास था कि अधिवेशन पर रुपयों की कमी न पड़ने पाए गी, क्यों कि कनखल-हरिद्वार तथा ज्वालापुर में मेरी इतनी सामाजिक सेवाएं हैं और ईमानदारी तथा सचाई की इतनी गहराई है कि किसी भी अच्छे काम के लिए मैं यहाँ की साधारण जनता से दस-पाँच हजार रुपये चाहे जब ले सकता हूं—लकड़ी बेचनेवाला गरीब मजदूर भी प्रसन्नता से मेरी

झोली में एक अठन्नी डाल देगा। यह विश्वास अनुभव पर कसा जा चुका है। सन् ४२ के अपने साथियों का मुकदमा मैं ने हाई कोर्ट तक लड़ा था, जेल से छूट कर, जब कि साधारण जनता से कुछ न ले कर और 'बड़े' आदमियों से बात भी न कर के अपने चार-पाँच मित्रों से ही काम चला लिया था। फिर वह तो 'सरकार' के विरुद्ध 'बागी' लोगों की मदद का सवाल था, जहाँ 'बड़े' आदमी झाँक भी न सकते थे। 'सम्मेलन' के लिए तो मैं उन से भी ले सकता था और मुझे विश्वास था कि कोई एक ही श्रद्धावान् सम्पूर्ण खर्च कर सकता है, जैसा कि आगे मेरे विद्या-शिष्य महन्त शान्तानन्दनाथ ने कर भी दिखाया। सो, अपने विश्वास पर मैं ने निमंत्रण दे ही दिया।

मुझे पता न था कि 'सम्मेलन' में पुस्तकव्यवसायियों के बल पर जो दलबन्दी चलती रहती है, उस का सम्बन्ध अधिवेशन से भी है और दुबे जी भी किसी दल में हैं। जब 'स्थायी समिति' में निमन्त्रण पर चर्चा हुई, तब वह सब ज्ञात हुआ! दुबे जी के विरोधी अधिवेशन प्रयाग में ही करना चाहते थे और दुबे जी चाहते थे कि किसी तरह प्रयाग में न हो। मैं बीच में फँस गया। जब निमन्त्रण दे ही दिया, तब पक्ष भी पड़ गया। बड़ी खींचतान हुई। मेरा भी बल था ही। अन्ततः एक मत अधिक मेरे पक्ष में रहा और हरिद्वार का निमन्त्रण स्वीकार हो गया!

हरिद्वार में अधिवेशन खूब धूम-धाम से हुआ, महन्त शान्तानन्द जी ने सब खर्च सँभाल लिया और प्रबन्ध भी खूब

किया। 'सम्मेलन' की स्वागत - समितियों में बदस्तूर जैसे झगड़े सर्वत्र होते रहे हैं, यहाँ भी हुए थे। ऐसे झगड़ों के कारण मुख्य ये हैं——१——सम्मेलन की नियमावली में अधिवेशन की स्वागत-समिति के लिए कोई विधि-नियम नहीं हैं, कोई निर्देश नहीं, नियंत्रण की कोई व्यवस्था नहीं है। २—— स्थानीय जन अपनी-अपनी प्रसिद्धि तथा अन्यान्य स्वार्थों के लिए धमा-चौकड़ी मचाते हैं। ३——सम्मेलन की गुटबन्दी स्वागत-समिति तक पहुँच जाती है और उसे भी विषाक्त कर देती है। 'सम्मेलन' में जो विविध दल लड़ते-झगड़ते रहे हैं, उन की जड़ें वे इलाहाबादी पुस्तक-व्यवसायी हैं, जो बड़े-बड़े प्रेसों के मालिक तथा 'कोर्स' की पुस्तकों के 'प्रकाशक' हैं। सम्मेलन-परीक्षाओं में अपनी पुस्तकें लगवाने के लिए वे लोग कुछ साहित्यिक नौकर रखते हैं, 'सम्मेलन' में गुट बनाने के लिए। प्रकाशकों के पैसे पर ये लोग अधिवेशनों में जाते हैं, स्वागत-समितियों को प्रभावित करते हैं, सब कुछ करते हैं कि 'स्थायी समिति' पर अपना कब्जा रहे! ये ही उस भयंकर बीमारी के कीड़े हैं, जिसे 'सम्मेलन' का तपेदिक कहते हैं और आज जिस में वह जकड़ गया है। अन्यत्र विस्तार से इस की चर्चा की जाए गी।

हाँ, तो हरिद्वार-सम्मेलन खूब धूम-धाम से हुआ। मेरे सम्बन्ध में इतना समझिए कि साहस, धैर्य, बुद्धि तथा सहिष्णुता का प्रयोग मैं ने इस यज्ञ में जितना किया, और कभी भी, कहीं भी जन्म भर में नहीं किया! साहस तो अन्यत्र भी, परन्तु बुद्धि तथा सहिष्णुता का ऐसा उद्रेक मुझ में और कभी नहीं हुआ!

ब्रज भाषा का व्याकरण

'सम्मेलन का अधिवेशन सुसम्पन्न हो जाने पर मैं प्रयाग गया, इस टोह में कि अब कुछ काम ढूँढ़ना चाहिए रोटी का ! जो कुछ था, समाप्त हो चुका था, कर्ज भी हो गया था और गृहिणी के जो दो-तीन गहने उस के पिता के दिए हुए थे, वे भी बेच खाए थे ! उस समय 'सम्मेलन' के प्रधान मन्त्री थे डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, जो आजकल सागर-विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर हैं। मैं त्रिपाठी जी से मिलने उन के बंगले पर गया। बात-चीत में त्रिपाठी जी ने स्वतः कहा--"आप सम्मेलन के लिए कुछ पुस्तकें लिख दें, तो अच्छा रहे।" प्रश्न करने पर मैं ने निवेदन किया कि "रस, अलंकार तथा व्याकरण पर मैं मौलिक पुस्तकें लिख सकता हूँ और हिन्दी में इन विषयों की बड़ी ही दुर्गति है।" त्रिपाठी जी ने स्वीकार किया और मुझे एक पत्र लिख दिया, सम्मेलन के साहित्य-मन्त्री के नाम। साहित्य-मंत्री उस समय थे--श्री रामचन्द्र टण्डन जी, 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' के वैतनिक अधिकारी थे। वहीं मैं उन से मिलने गया। मेरे साथ पं० भगीरथ प्रसाद दीक्षित भी थे। जा कर नमस्ते आदि हुई और तब मैं ने उन्हें प्रधान मंत्री का वह पत्र दिया। उन्हों ने पूछा--"तो, पहले आप किस विषय पर लिखना चाहें गे ?"

--"पहले तो व्याकरण ही लिखना ठीक होगा, तब अलंकार और रस। यही क्रम ठीक रहे गा।"

--"व्याकरण पर आप क्या मौलिक चीजें दें गे !

व्याकरण तो पं० कामता प्रसाद गुरु का है ही।"

--"मैं उन व्याकरणों को जानता हूं, तभी तो कहता हूँ कि हिन्दी में एक व्याकरण-ग्रन्थ की जरूरत है। 'गुरु जी का वह व्याकरण तो एकदम गलत आधार पर बना है और उसी के आधार पर बने ये शतशः--सहस्रशः व्याकरण जो देश भर में चल रहे हैं, एकदम कूड़ा-कर्कट हैं! अज्ञान फैला रहे हैं।"

--"क्या सभी व्याकरण गलत हैं? आप तो बड़ी विचित्र बात कह रहे हैं!"

--"जी हाँ, हिन्दी के सभी प्रचलित व्याकरण गलत हैं। वस्तुतः हिन्दी का व्याकरण अभी तक बना ही नहीं है!"

टंडन जी ने मेरी ये बातें इस तरह सुनीं, जैसे कि कोई सनकी कुछ कह रहा हो और एक विज्ञ-श्रोता सुन रहा हो। वे बोले--

"जहाँ तक रस अलंकार की बात है, आप को मैं 'अथारिटी' मान सकता हूं। परन्तु व्याकरण तो ऐसी चीज नहीं। इस में क्या बदले गा? पर आप जब कहते हैं, तो ठीक! पहले आप इस व्याकरण-विषय पर हिन्दी के विद्वानों से परामर्श कर लें, तब आगे बात चले।"

--"वे कौन से विद्वान् हैं, जिन से व्याकरण के विषय में मैं परामर्श करूं?"

--"ये ही विद्वान्--डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना आदि।"

—"परन्तु मेरे तत्त्व तो मौलिक हैं। कहीं ऐसा न हो कि मैं परामर्श करूँ और मेरी चीज कोई ले उड़े! मैं पुस्तक लिखने में लगा रहूँ और और मेरी मौलिक चीजें पहले ही कोई किसी लेख में कहीं प्रकाशित करा दे, तब मैं क्या करूंगा? यदि ऐसा न भी हुआ, और पुस्तक मैं ने लिख भी दी, तो भूमिका में आप प्रकाशक की हैसियत से लिखेंगे कि अमुक-अमुक विद्वानों के परामर्श से यह पुस्तक लिखी गई है! इतना लिख देने पर मैं तो एक क्लर्क भर हिन्दी-जगत् में समझा जाऊँ गा। उन 'डाक्टर' विभागाध्यक्षों से मैं दब जाऊं गा। इस लिए मैं वैसा परामर्श किसी से न करूं गा।"

—"तो फिर व्याकरण पर आप से कुछ लिखवाना वैसा ठीक नहीं है। सभी व्याकरणों को उलट कर आप कोई चीज लिखना चाहते हैं और फिर किसी का परामर्श भी नहीं!"

—"जिन से परामर्श लेन के लिए आप कह कह रहे हैं, उन के ग्रन्थों का भी निराकरण सम्भावित है।"

—"हो सकता है। परन्तु तब आप से हमारा (संमेलन, का) काम न चलेगा।"

इस पर मैं उठ खड़ा हुआ, दीक्षित जी भी चुपचाप खड़े हो गए। मैं सम्मेलन-भवन (सत्यनारायण-कुटीर) जा कर सोच में पड़ गया; क्या करना चाहिए! परन्तु निश्चय कर लिया और श्री 'रामनारायणलाल' के यहाँ (कटरा) जा कर 'लेखन-कला' बेचने की चर्चा की। उन्हों ने तुरन्त नगद पाँच सौ रुपए दे दिए। मैं ने वे रुपए लिए। उन

में से दो सौ घर भेज दिए, पचास अपने खर्च के लिए रखे और ढाई सौ रुपए कागज खरीदने के लिए 'हिन्दी प्रेस' के मालिक को दे दिए। 'ब्रजभाषा का व्याकरण' लिखने लगा और वह साथ-साथ छपने भी लगा। सम्पूर्ण व्याकरण लिख जाने पर अपने एक रिश्तेदार साहित्यिक (लखनऊ के पं० गिरिजा प्रसाद द्विवदी) से पता चला कि डा० धीरेन्द्र वर्मा का भी एक ब्रजभाषा-व्याकरण है! मैं यह सुन कर कुछ घबराया! कहीं मैं पिष्ट-पेषण तो नहीं कर गया! जब मैं छोटा था, तभी से ब्रजभाषा - व्याकरण की माँग सुनता आ रहा था। इसी लिये श्रम किया था। मुझे मालूम होता कि डा० वर्मा ब्रजभाषा का व्याकरण लिख चुके हैं, तो मैं क्यों उधर मरता! खैर, पुस्तक प्राप्त की, तो वह कर्कट का ढेर निकली! तब परिशिष्ट में उस का परिचय दिया! भूमिका में 'गुरु' आदि के व्याकरणों की ऐसी आलोचना की, जिस से कि एक भूचाल आ गया——उथल-पुथल मच गई! तब से वाच्य-परिवर्तन कराने के प्रश्न आने बन्द हो गए और हिंदी के नए व्याकरण की माँग होने लगी।

'ब्रजभाषा का व्याकरण' हिन्दी-जगत् के लिए एक युग-परिवर्तनकारी चीज के रूप में प्रसिद्ध है; इसलिए इस पर कुछ अधिक कहना व्यर्थ है।

पोद्दार जी का अभिनन्दन

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का अभिनन्दन 'ब्रजसाहित्य-मण्डल' के तत्त्वावधान में, मथुरा में सम्पन्न हुआ, जिस में

मैं भी गया था। 'मण्डल' के सम्बन्ध में जो कुछ कहना है, इकट्ठे कहूंगा, जब 'सभा' 'सम्मेलन' 'एकेडेमी' तथा 'हिन्दुस्तानी-प्रचार सभा' आदि संस्थाओं के संस्मरण कभी लिखूंगा। इस अभिनन्दन-उत्सव पर घटित एक घटना का उल्लेख करना है।

इस अभिनन्दन-उत्सव की अध्यक्षता पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने की थी, जिन के साथ श्री महावीर त्यागी भी वहाँ उपस्थित हुए थे। पालीवाल जी को मैं 'साहित्यिक' भी समझता हूं, इसी लिए उत्सव में सम्मिलित होना मैं ने अस्वीकार नहीं किया। यदि कोई 'केवल राजनैतिक' नेता अध्यक्ष होते, तो मैं कभी भी वहाँ न जाता। कारण, मैं ने बहुत पहले समझ लिया था कि राजनैतिक नेता लोग कभी भी साहित्यिक का वैसा मान इस देश में नहीं चाहते, जो उनसे बढ़ कर जनता की आँखों में समाए। बहुत पहले काशी के साहित्यकारों ने श्री मैथिलीशरण गुप्त के सम्मान का एक आयोजन किया था, जिस में उन्हें अभिनन्दन-पत्र समर्पित करना था। उस समय देश के एक सर्वमान्य पूज्य नेता वहाँ पहुंचे हुए थे। लोगों ने सोचा कि इन के हाथों यदि अभिनन्दन-पत्र समर्पित कराया जाए, तो सोने में सुगन्ध पैदा हो जाए। निवेदन स्वीकार हुआ और सभा-मंच पर जब महान् नेता ने आशीर्वाद देना शुरू किया, तो पहले यही कहा —"ऐसे समारोह तो मृत्यु के बाद ही अच्छे लगते हैं!" मैं उस समय उस समारोह में न था, समाचार-पत्रों में यह पढ़ा था।

दिल को चोट इसलिए लगी कि राजनैतिक नेताओं के सम्मान में एक से एक बढ़ कर आयोजन तब होते रहते थे और जिन पूज्यवर ने वे शब्द कहे थे, उन के अभिनन्दन तो बहुत धूम-धाम से होते थे। गुप्त जी का तो वह एक प्रासंगिक या नैमित्तिक अभिनन्दन था! यह बात मुझे याद थी।

परन्तु उत्सव में एक ऐसी घटना घट गई, जिस ने मुझे उत्तेजित कर ही तो दिया। बात यह हुई कि उत्सव के प्रारम्भ में ही संयोजक महोदय ने बधाई के तार-पत्र आदि जो पढ़े, उन में हमारे राज्य (उत्तर प्रदेश) के मुख्य मंत्री का भी एक तार था, जो उन की ओर से उन के प्राइवेट सेक्रेटरी ने भेजा था। बधाई थी। प्राइवेट सेक्रेटरी ने मुख्य मंत्री की ओर से तार भेजा है, यह सुन कर मुझे गुस्सा आ गया। मैं पन्त जी के शील-सौजन्य से परिचित हूं। सन् १९३१ में जब गान्धी-ईर्विन पैक्ट के अनुसार पुनः उसी जगह 'सर्विस' में जाने को मुझे अवसर मिला, तो एक राष्ट्रीय विजय समझ कर मैंने इसे ग्रहण किया था और 'सरकारी' अधिकारियों ने अपनी पराजय समझी थी, जिन्हों ने पहले 'आस्तीन का साँप' कह कर बर्खास्त किया था। उन्हों ने मुझे पुनः सर्विस में लेने से इनकार कर दिया था। यद्यपि मुझे आगरे के डी० ए० वी० हाई स्कूल में अच्छी जगह मिल रही थी; पर मैं ने हरिद्वार पहुंचना ही उचित समझा, विशेषतः तब, जब कि उस अधिकारी ने मना कर दिया। मैं ने वायसराय, प्रान्त के गवर्नर, अ० भा० कांग्रेस कमेटी, प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी तथा

महात्मा जी को सूचित किया कि 'गान्धी इर्विन पैक्ट' की क्या दुर्दशा सरकारी अधिकारी कर रहे हैं। मेरी यह चिट्ठी श्री महेन्द्र जी ने अंग्रेजी में टाइप की थी, 'सैनिक'-कार्यालय में, जहाँ वे उस समय काम करत थे। कुछ दिन बाद प्रान्तीय कांग्रेस से उत्तर आया कि आप का मामला पं० गोविन्द वल्लभ पन्त को सौंपा गया है, उन्हीं से आप 'हलद्वानी' के पते पर पत्र-व्यवहार करें। मैं पन्त जी को पत्र लिख भी न पाया था कि उन के हाथ का लिखा हिन्दी में सुन्दर कार्ड मुझे मिला, अत्यन्त आत्मीयतापूर्ण। लिखा था कि "एक पत्र आप डाइरेक्टर को भेज दीजिए, कल-परसों मैं नैनीताल जा रहा हूँ। वहाँ गवर्नमेंट-हाउस में आप की चर्चा करूँगा। काम बहुत जल्दी ठीक हो जाए गा।'

वह सब उसी तरह हुआ था। कहने का मतलब यह कि मुझे व्यक्तिगत रूप से तो पन्त जी पर श्रद्धा; परन्तु इस तार-प्रकरण से मैं चिढ़ गया। क्या उन्हें तार पर हस्ताक्षर करने की भी फुर्सत नहीं! क्या रोज-रोज पोद्दार जी का अभिनन्दन होता है? क्या पोद्दार जी की सेवाएं इस योग्य हैं कि प्राइवेट सेक्रेटरी एक चलतू रिवाज पूरा कर दे? जल-भुन गया और जब पालीवाल जी ने मेरा नाम बोलने के लिए लिया, तो उठ कर इसी प्रकरण पर पहले आध घंटे तक मैं बोला। पालीवाल जी उस समय 'सर्वं त्यज कांग्रेसं भज' की दीक्षा देश को दे रहे थे और 'मण्डल' वाले सरकारी दान की आशा में थे; इस लिए मेरे भाषण पर कुड़मुड़ा रहे थे;

पर करते क्या ? मैं ने कहा कि ऐसे राजनैतिक नेताओं के सन्देश मंगाए ही क्यों जाएं, तो साहित्यिक को पहचानते नहीं! यदि भूल से मंगाया गया, तो इस तरह सेक्रेटरी का भेजा हुआ देख कर फाड़ क्यों न दिया गया ? सभा में सुनाया क्यों गया ? सुनाया गया और हमें जलाया गया, तो फिर सुनने को भी तयार रहना ही चाहिए।

वहाँ तो कोई नहीं बोला ; परन्तु सभा विसर्जित होने पर हम लोग जब आवास पहुँचे, तो पालीवाल जी बिगड़ उठे और हम दोनों में खासी झड़प हो गई। परन्तु पालीवाल जी ने मेरे कथन का औचित्य स्वीकार किया। वे केवल यह कह रहे थे कि आप ने सभा में ही वैसे नेता को वैसे शब्द कहे, यह ठीक नहीं किया। मेरा कहना यह था कि सभा में ही जब पोद्दार के रूप में सम्पूर्ण साहित्यिक जगत् की वैसी स्थिति प्रकट हुई, तब वहाँ वह सब कहना ठीक था और वहीं कहना ठीक था।

अस्तु, इस प्रकरण से भी मैं ने बहुत से अपने विरोधी ही बनाए। समझा गया कि 'मण्डल' की प्रगति में ऐसे भाषण वाधा डालते हैं।

एक और पुस्तक !

व्रजभाषा का व्याकरण लिख कर मैं ने जबर्दस्त अपने विरोधी बना ही लिए थे, जो अपने शिष्य-प्रशिष्यों के सहित देश भर के विश्वविद्यालयों पर तथा 'सम्मेलन' के परीक्षा-

विभाग पर अनन्त काल के लिए काबिज हैं ; अब एक और पुस्तक लिख कर मैं ने एक बहुत बड़ी शक्ति को तथा हिन्दू जाति के एक शक्तिशाली वर्ग को अपने विरुद्ध सदा के लिए कर लिया! यह पुस्तक 'साहित्यिक' नहीं कही जा सकती, सामाजिक समझिए। मैं ने कभी इस तरह की कोई चीज न इस से पहले लिखी थी, न इस के बाद लिखी। वह उसी तरह की एक पुस्तक की वज्र-प्रतिक्रिया थी। इन दोनों पुस्तकों के नाम-रूप एक हैं, जिन की याद भुला देना ही अच्छा। वह सब भुला देने के लिए ही मेरा वह वज्र-प्रहार था। अब सब ठीक है। वह क्षणिक विकृति दब गई। यदि न दबाई जाती, तो समाज में बहुत खराबी पैदा करती। काम तो इस से देश का हुआ ; परन्तु एक शक्तिशाली वर्ग मुझ से बुरा मान बैठा। कुछ किस्मत ही ऐसी ले कर उतरा हूं!

सभापति-निर्वाचन में झमेला

'सम्मेलन' की अतिथिशाला में ठहरा हुआ जब मैं अपना 'व्रजभाषा का व्याकरण' छपवा रहा था, तो वहाँ एक अद्भुत घटना घटी। सम्मेलन के इतिहास में इस घटना का जोड़ नहीं और इस तरह जीती मक्खी कभी पहले निगली नहीं गई थी। 'सम्मेलन' के अगले (जयपुर में होनेवाले) अधिवेशन के सभापति का चुनाव हुआ। श्रद्धेय टंडन जी तब तक जेल से छूटे न थे। चुनाव में जो मत-पत्र प्राप्त हुए, उन की गिनती के लिए जो सज्जन नियुक्त हुए, उन में एक भदन्त

आनन्द कौसल्यायन भी थे, जो मेरे साथ ही अतिथिशाला में ठहरे हुए थे। इन के अतिरिक्त पं० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' तथा पं० वाचस्पति पाठक भी 'गणक' थे। मैं गणना-स्थल से कुछ हट कर, सामने ही एक कुर्सी पर बैठा, यों ही देख रहा था—कुतूहल था। गिनती करने पर दिल्ली के श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति को सर्वाधिक मत मिले; स्पष्ट हुए। इस परिणाम पर कुहराम मच गया! 'सम्मेलन' की बाग-डोर जिस 'दल' के हाथ में थी, उसी के एक प्रमुख नेता चुनाव में हार गए, यह था असली कारण उस कुहराम का। यानी श्री इन्द्र का विरोध नहीं, प्रत्युत एक दूसरे पक्ष के प्रति पक्षपात जो था, उस ने गड़बड़ डाल दी। उसी समय लोग भागे-दौड़े और घोषणा कर दी गई कि चुनाव का ढंग अनियमित था; इस लिए चुनाव अनियमित करार दिया जाता है; फिर चुनाव हो गा! चुनाव इस लिए अनियमित; क्योंकि जिस नियम तथा पद्धति का अनुसरण हुआ है, वह गलत है। परन्तु उस नियम को बनाया था स्वयं 'सम्मेलन' ने और उसी नियम से तथा उसी पद्धति पर आठ-दस वर्षों से चुनाव होते चले आ रहे थे। किन्तु समर्थ क्या नहीं कर सकता?

'सम्मेलन' में यह गड़बड़ी जो हुई, काँग्रेस की काली छाया मात्र थी। कुछ दिन पहले कांग्रेस ने अपने निर्वाचित अध्यक्ष (श्री सुभाषचन्द्र बोस) को उखाड़ फेंका था। उसी से वैसे लोगों को बल मिला—अनीति करने का साहस बढ़ा। जो

विद्वान् चुनाव में हारे थे, वे 'सम्मेलन' के कामों में एक मुद्दत से योग देते आ रहे थे, भले ही किसी दल में हों। यही नहीं, उन के विद्वान् पिता ने भी बहुत दिन तक सम्मेलन की प्रमुख सेवाएं की हैं। विद्वत्ता में वे अन्तर-राष्ट्रीय ख्याति का महत्त्व रखते हैं और साहित्यिकों में बन्धुत्व का स्नेह रखते हैं। इधर श्री इन्द्र जी भी एक महान् राष्ट्रीय नेता के सुपुत्र हैं, जिन्हों ने हिन्दी का अमित उपकार किया है। स्वयं इन्द्र जी ने भी हिन्दी का बहुत काम किया है; पर 'सम्मेलन' से ये प्रायः अलग ही सदा रहे हैं—कभी कोई पद-भार सौंप दिया गया, तो उसे जरूर निभा दिया है। साहित्यिक जनों से इन का बर्ताव भी सरस आत्मीयतापूर्ण वैसा नहीं है। फिर भी, मुझे वह गड़बड़ी खली, इस लिए कि इतने बड़े निर्वाचक-मण्डल से तथा 'सम्मेलन' की नियमावली से खिलवाड़ की गई! स्पष्ट ही मैं ने श्री इन्द्र के विरुद्ध उन के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी को अपना मत दिया था और मेरा पक्ष हार गया था। परन्तु वह धाँधागर्दी मुझे बहुत बुरी लगी। मैं ने उस का खुल कर विरोध किया और इस विरोध में स्थायी समिति से त्याग-पत्र दे दिया। यह सब मैं ने समाचार पत्रों में छपवा भी दिया था। इस तरह का विरोध करने वाला या पहाड़ से सिर टकराने वाला मैं अकेला ही था; यद्यपि बुरा बहुतों को लगा था। मेरे इस विरोध को लोगों ने अधिक बैर में ग्रहण नहीं किया, क्योंकि सब सदा जानते रहे हैं कि मैं कभी भी किसी दल के दलदल में नहीं रहा। इस

से मेरा बिगाड़ इतना ही लोग कर सके कि कभी मेरी लिखी पुस्तकें 'सम्मेलन' में नहीं छपने दीं और अन्यत्र छपी पुस्तकें परीक्षाओं में नहीं लगने दीं। 'लेखनकला' उतने दिन तक इस लिए 'विशारद' में लगी रही ; क्योंकि उस के प्रकाशक इलाहाबाद के ही एक पुस्तक-व्यवसायी हैं।

आखिर दुबारा चुनाव हुआ। वे प्रतिष्ठित विद्वान् तो फिर न खड़े हुए, जिन का जिक्र ऊपर मैं ने किया है ; परन्तु श्री इन्द्र जी पुनः खड़े हुए। इस बार इन्द्र जी फिर जीत जाते ; पर चुनाव से पहले ही एक गलती हो गई। 'वीर अर्जुन' में चुनाव-आन्दोलन कुछ आर्य-समाजी ढंग का महीनों चला ! इस से पक्ष में कुछ हलकापन आ गया और दूसरी ओर सनातनी अखाड़ा भी ताल ठोंकने लगा। सच तो यह है कि श्री गणेश दत्त गोस्वामी को इसी लिए लोगों ने खड़ा कर दिया कि सनातनी लोग इकतरफा वोट दें। मैं ने तब तक कभी भी 'सम्मेलन' में वैसा साम्प्रदायिक वातावरण चुनाव में न देखा था। गोस्वामी जी का समर्थन कुछ दूसरे लोगों ने इस मृगमरीचिका के आकर्षण से भी किया था कि वे रुपया माँगने में सिद्धहस्त हैं और 'सम्मेलन' का खजाना ठसाठस भर दें गे। ऐसे लोग बाद में खूब पछताए। कुछ भी हो, गोस्वामी श्री गणेशदत्त जी चुनाव में जीत गए और श्री इन्द्र जी हार गए। प्रयाग के उस दल के लिए इतना ही बहुत था कि इन्द्र जी को न होने दिया सभापति !

मुझे कुछ दिन बाद ही मना लिया गया था, त्याग-पत्र

वापस लेने के लिए। मैं करता भी क्या, जब चारों ग्रोर सन्नाटा था! इन्द्र जी तो हैं ही क्या, जब कि श्री सुभाषचन्द्र बोस को उस तरह उलट देना भी देश ने चुपचाप सह लिया था, ग्रौर राजर्षि टंडन को तो अभी कल ही शक्तिशालियों ने सिंहासन से गिरा कर ही साँस ली; केवल यह मृगमरीचिका दिखा कर कि 'इस से संगठन में तथा जनता में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होंगे।' किसी ने तब से पूछा कि कौन-कौन से परिवर्तन हुए हैं? हाँ, साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन जरूर मिला है। ये सब प्रसंगान्तर की चर्चाएं हैं, केवल उदाहरणार्थ ध्यान गया।

कांग्रेसवाले भी भड़क उठे!

देश को विभाजन-पूर्वक स्वातंत्र्य प्राप्त करने पर स्थानीय कांग्रेसी भी मुझ से भड़क उठे ग्रौर ऐसे भड़के कि मुझे एक बार फिर छह मास के लिए उबली हुई रोटियाँ तसले में खानी पड़ीं। बात यह हुई कि पंजाबी तथा सरहद्दी निर्वासित भाइयों का एक बहुत बड़ा पहला रेला हरिद्वार आया, तो धर्मशालाएं, लाजिंग हाउस, देव मन्दिर तथा अन्य इसी तरह के सब मकान ठसाठस भर गए। उस समय साधुग्रों के बड़े-बड़े आश्रम भी खूब काम आए, जो किसी समय इन्हीं लोगों के पैसे से बने थे, जो आज 'बेचारे गरीब' कहे जाते थे। उस समय तक कांग्रेसियों को कोई आदेश ऊपर से आए न थे, न कोई किसी का 'केम्प' ही तब तक लगा था। जंगल में भी खुले आकाश के नीचे लोग पड़े थे।

इन के इस प्रकार के आगमन से यहाँ (हरिद्वार) के कुछ लोग बहुत भड़के और अफवाहें फैलानी शुरू कीं कि ये लोग किसी भी समय शान्ति भंग कर सकते हैं; इस लिए सावधान रहना चाहिए। इस तरह की बातें सभाओं में कही जाने लगीं और इन लोगों से नगर की शान्ति-रक्षा करने के लिए 'अमन सभा' संगठित की गई।

मेरे हृदय में ये सब बातें तीर की तरह चुभ रही थीं। मरे पास ऐसी कोई चीज न थी, जिस से मैं अपने इन दुखी भाइयों की मदद कर सकता; यह दुख बराबर सताता था। ऊपर से ये 'अमन-सभा' वाले तंग कर रहे थे। 'अमन सभा' में जो कई वर्ग थे, उन में से मुख्य ये हैं—

१—कांग्रेस वाले, जिन्हें डर था कि ये लोग यहाँ बस गए, तो चुनाव में हमें वोट न दें गे और इन्हों ने कोई ऐसी अशान्ति फैलाई कि मुसलमान भाग गए, तो दुगना घाटा उठाना पड़ेगा।

२—मुसलमान इस लिए चिन्तित थे कि ये लोग यहाँ रहे, तो किसी भी समय आग भड़का सकते हैं और हमें मुसीबत में डाल सकते हैं।

३—बनिज-व्यापार करने वाले इस घबराहट में थे कि ये लोग यहाँ बस गए, तो हमारी रोटी में हिस्सेदार बन जाएं गे।

४—जिन लोगों का गुजारा यात्रियों पर ही है, वे इस लिए इन से ऊब रहे थे कि यदि इन्हों ने धर्मशालाएं आदि न खाली कीं, तो यात्री आ कर कहाँ ठहरें गे! यात्री आने कम हो गए, तो हम क्या करें गे!

सो, चारो ओर से चार समुदाय इकट्ठे हो गए और 'अमन सभा' के द्वारा उन बेचारों के प्रति ऐसे भाव प्रकट करने लगे! जैसे वे लोग जरायम-पेशा या पेशेवर बदमाश हों!

एक दिन कनखल के चौक में 'अमन-सभा' का जलसा हुआ। उस के सभापति थे पं० हीरावल्लभ त्रिपाठी, जो अब 'एम० पी०' हैं। त्रिपाठी जी ने सभा का प्रारम्भ करते हुए कहा—"ये हमारे मेहमान हैं। मेहमान को आश्रय देना हमारा फर्ज है। परन्तु अमन रखना जरूरी है। अमन में हम गड़बड़ी न पड़ने दें गे।" मुट्ठी बाँध कर उन्हों ने कहा—'अगर अमन में खलल पड़ा, तो हम उस का मुकाबला सख्ती से करें गे, हमारे पास ताकत है।' त्रिपाठी जी की ये बातें मुझे अच्छी न लगीं, क्योंकि वे बेचारे जिस परिस्थिति में उस समय थे, सहानुभूति के शब्द चाहते थे। मुझे जब बोलने के लिए त्रिपाठी जी ने कहा, तो मैं ने अपना भाषण यों प्रारम्भ किया—"भाइयो, जिन के बारे में यह सभा हो रही है, वे हमारे मेहमान नहीं हैं, भाई हैं और इस घर में, देश में, उन का बराबरी का हिस्सा है। हमें देना होगा, बिना अहसान प्रकट किए। और, वे लोग पूर्ण शान्ति से रह रहे हैं, तब 'अपडर' से उन के प्रति वैसी भावना प्रकट करना और शक्ति के द्वारा दबाने की बात कह कर उनके दुखी मन को और भी दुखाना इस समय उचित नहीं है।"—इतना ही मैं कह पाया था कि सभापति ने आगे बोलने ही न दिया, बैठ जाने को कहा। मैं चाहता, तो सभापति की आज्ञा की उपेक्षा

कर देता और उस सभा से कुछ दूर अलग जा कर बोलने लगता, तो वह सम्पूर्ण सभा उखड़ कर मेरे पास पहुंच जाती। कांग्रेस-आन्दोलन के दिनों में अनेक बार अंग्रेज-सहायक 'अमन-सभा' के बड़े-बड़े जलसों को तथा 'रेडीकल पार्टी' आदि की सभाओं को इसी तरह बात की बात में यहीं (हरिद्वार-कनखल में) उखाड़ देता था। जनता मेरी बात सुनती है। परन्तु सभापति की आज्ञा मैं ने इसलिए मान ली कि उन के सभापतित्व का प्रस्ताव मैं ने ही किया था।

चुपचाप उठ कर घर चला आया और उस 'अमन-सभा' की हरकतों का मुकाबला करने के लिए, निर्वासित भाइयों का पक्ष-समर्थन करने के लिए, दूसरे ही दिन मैं ने 'नगर-शान्ति-सभा' का संगठन किया, जिस का मंत्री मैं स्वयं बना। इस 'सभा' के द्वारा उस 'अमन-सभा' को मैं ने जड़ मूल से उखाड़ दिया—कलई खोल दी। तब यह माँग रखी गई कि इन (निर्वासित जनों) से शस्त्रों के लाइसेंस वापस ले-लेने चाहिए। मैं ने अपनी सभा की ओर से इस का भी विरोध किया और कहा कि इन के पास अखिल भारतीय लाइसेंस हैं, जंगल में पड़े हुए हैं और अपने शस्त्रों का इन्हों ने कोई दुरुपयोग नहीं किया है; तब लाइसेंस छीनने की सिफारिश करना ईमानदारी की बात नहीं है। लाइसेंसों की वापसी की माँग भी दबी।

कुछ दिनों में कांग्रेसियों को ऊपर से आज्ञा मिली कि निर्वासितों की मदद करो। इधर मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी (कलकत्ता) तथा बिरला-बन्धुओं ने भी सहायता-केम्प लगा

दिए। काम ठीक चलने लगा और 'अमन-सभा' के साथ 'नगर-शान्ति-सभा' भी समाप्त हो गई।

परन्तु कांग्रेसी लोग मुझ से बेतरह चिढ़ गए। ज्वालापुर के मुसलमान तो मुझे शत्रु की-सी बुरी निगाह से देखने लगे। कहते थे—'मुल्क के वाशिन्दों के खिलाफ गैरमुल्कियों की तरफदारी कर के यह बर्बादी ला दे गा।'

ज्वालापुर हरिद्वार म्यूनि० के भीतर है और हरिद्वार-कनखल की सम्मिलित जन-संख्या से दुगुनी वहाँ की जन-संख्या थी, अब भी है। उस समय वहाँ मुसलमानों की आबादी आधी थी, आधे में शेष सब थे। परन्तु जोर उन का इतना था कि कस्बे में लोग 'रामलीला' तक न कर सकते थे। वहाँ के कसाईखाने में नित्य गो-हिंसा होती थी और कसाई लोग खुले आम कभी-कभी प्रदर्शन कर के तीर्थ-पुरोहितों को तंग किया करते थे। मैं इन बातों से जलता था; पर स्वराज्य की राह देख रहा था, सब सह रहा था। मैं ज्वालापुर से कई मील दूर कनखल में बसा; यह भी अच्छा ही हुआ। परन्तु इस समय मुझे ज्वालापुर के इन लोगों की हरकतें बहुत खलने लगीं। मैं ने व्यक्तिगत रूप से एक प्रार्थना निकाली—छपवा कर बंटवाई। बंटवाई क्या, स्वयं जा कर बाँटी; क्योंकि ज्वालापुर में वह पर्चा बाँटना किसी ने भी स्वीकार न किया। उस में यही लिखा था कि कसाई-खाने में गोहिंसा अब बन्द कर देनी चाहिए; क्योंकि यह कस्बा हरिद्वार तीर्थ का ही एक अंग है, लोगों के दिल बहुत

दुखी होते हैं। और 'रामलीला' होने देना चाहिए, इस में रुकावट डालना ठीक नहीं हैं। यह भी छापा था कि हम लोग जब आप लोगों का दिल दुखाने का कोई काम नहीं करते, तो आप को भी वही बर्ताव करना चाहिए।

मेरी इस प्रार्थना से कांग्रेसी लोग तथा मुसलमान लोग बहुत नाराज हो गए और जिला-मजिस्ट्रेट से जा कर शिकायत की कि वाजपेयी ने रिफ्यूजियों को भड़का कर दंगा करा देने की नियत से यह काम शुरू किया है—ऐसे पर्चे निकालने लगा है। मजिस्ट्रेट ने मुझे बुलाया और कहा—"यह पर्चा आप ने उपद्रव कराने की नियत से छपवाया है; यह ठीक नहीं है।" मैं ने उत्तर में बड़े अदब से निवेदन किया—"मैं तो उपद्रव की जड़ ही हटा देना चाहता हूं। उसी के लिए वह पर्चा है। उपद्रव का कारण दूर करना चाहिए। तब कोई उपद्रव कैसे हो गा?" मजिस्ट्रेट को मेरी बातों से सन्तोष न हुआ और उस ने क्रोध में कहा—'तो फिर कानून अपना रास्ता पकड़े गा।'—"अवश्य कानून को अपना काम करना चाहिए" कह कर मैं चलता बना। जिले के अधिकारियों ने अब तक अनुभव कर लिया था कि अदालत में इसे फाँस लेना बहुत सरल नहीं है। सो, उस समय सब चुप हो गए।

कुछ दिन बाद बड़ा भारी जन-संमर्द हो गया और उस में सैकड़ों आदमी मारे गए! मुसलमान भाग गए और पंजाबी लोगों को जगह मिल गई। उस दंगे में मुझे फँसाने की चेष्टा की गई; पर न मैं ने कभी लाठी उठाई, न दंगे की ओर मुंह ही किया। यह अवसर भी चूक गया।

परन्तु जब महात्मा जी पर किसी 'पागल' ने गोली चला दी, तब देश भर से जो दस-बारह हजार हिन्दू-महासभा वाले तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघ वाले पकड़ कर जेल में डाल दिए गए थे, उन के साथ मुझे भी पकड़वा दिया गया। न मैं 'सभा' का कभी सदस्य बना था, न 'संघ' का, न इन संगठनों से कोई दूर का ही सम्बन्ध था। परन्तु जेल में जो अभियोग-पत्र मुझे मिला, उस में लिखा था—'संघ का कार्य करता है।' 'कार्यकर्ता' को 'कार्य करता' पुलिस वालों ने हिन्दी में लिखा था। यों मुझे जबर्दस्ती कांग्रसियों ने दूसरी ओर धकेल दिया। फिर, जेल से छूटने के बाद मैं ने 'सभा' तथा 'संध' की ओर आकर्षण प्रकट किया, जो कि स्वाभिमान-रक्षा के लिए भी जरूरी था। परन्तु तो भी, आज तक मैं इन संगठनों में से किसी का भी सदस्य नहीं बना हूं। हाँ, इन संगठनों की कई बातें मुझे अच्छी लगती हैं, यह मैं क्यों छिपाऊं?

मजिस्ट्रेट फँस गए

इस बार मैं जेल से कैसे छूटा, यह बड़ा मनोरंजक किस्सा है। चार-साढ़े चार मास जब जेल में नजरबन्दी काटते हो गए और अन्याय-संशोधन की आशा एकदम जाती रही, तब जिला-मजिस्ट्रेट की मार्फत मैं ने प्रदेश के मुख्य मंत्री के नाम एक लम्बी चिट्ठी लिखी, जिस में अनशन की सूचना थी। वह चिट्ठी जेल के रजिस्टर में चढ़ कर मजिस्ट्रेट

के पास गई। मजिस्ट्रेट थे श्री रामेश्वर दयाल जी, जो बाद में दिल्ली के डिप्टी कमिश्नर हुए और अब रिटायर हो गए हैं। चिट्ठी में लिखा था—

"माननीय मुख्य मंत्री जी, मैं इस समय सहारनपुर-जेल में पड़ा सड़ रहा हूं—अकारण। काम मैं ने जन्म भर वे ही किए हैं, जो आप ने किए हैं; परन्तु आप के बाल-बच्चों को भूखों मरने की नौबत न आई हो गी। मेरे जैसे कांग्रेसियों के सामने यह भी आया। पर स्वराज्य में आप शासक हैं और मैं जेल में हूं। इस का कारण यह है कि एक काम मैं ने ज्यादा किया है। जब 'मुस्लिम लीग' का 'डाइरेक्ट ऐक्शन' शुरू हुआ और उस की लपटों ने देश भर को झुलसाना शुरू किया, तब महात्मा जी ने तथा सरदार पटेल (गृह-मंत्री) ने छपा कर कहा कि—'जनता को अब अपने पैरों खड़ा होना चाहिए, केन्द्रीय सरकार इस समय पंगु है।' इस आज्ञा को जिन लोगों ने शिरोधार्य कर के अपने आप को जोखिम में डाला और गुंडों का मुकाबला कर के उन्हें ठंढा किया, उन की प्रशंसा मैं ने खुल कर की—छपवा कर उन्हें बधाई दी। इस तरह 'अपने पैरों खड़े' होने वालों में निःसन्देह उन की संख्या अधिक थी, जिन्हें 'साम्प्रदायिक' कहा जाता है। परन्तु काँटे से काँटा निकाला गया। अब उस काँटे को भी तोड़ कर फेंक देने का अवसर आया, महात्मा जी के कारण। तब उन 'साम्प्रदायिक' लोगों के साथ मुझे भी पकड़ लिया गया, इस लिए कि उन की पीठ मैं ने ठोंकी थी। अवश्य मैं ने

यह अपराध किया है ; परन्तु अपने नेताओं के कहने पर, जिन्होंने अपने पैरों पर खड़े होने को कहा। लेकिन अब मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि इस तरह ऐसे नेताओं के कहने में कभी न आऊंगा और इस लिए मुझे जेल से छोड़ देना चाहिए। यदि इतने पर भी न छोड़ेंगे, तो पन्द्रह दिन तक राह देख कर मैं सोलहवें दिन से अनशन प्रारम्भ कर दूं गा।"

मुझे पता नहीं कि मजिस्ट्रेट ने यह पत्र आगे बढ़ाया, या अपने ही पास रोक लिया। परन्तु सोलहवें दिन जब दुपहर को मैंने भोजन न लिया, तो गड़बड़ी मची। जेलर तथा जिला-मजिस्ट्रेट ने टेलीफोन पर बात-चीत की। मुझ से जेलर ने आ कर कहा कि साहब कह रहे हैं कि जमानत-मुचलके दे दो, छोड़ दिए जाओ गे।' मैं पुराना कांग्रेसी, जमानत-मुचलके के नाम से चिढ़! तब यह कहा गया—"जमानत-मुचलके लिए बिना आप को छोड़ दिया जाए गा। आप की बात रह जाए गी। फिर एक सप्ताह में, बाहर से, जमानत-मुचलके का प्रबन्ध इस लिए कर दीजिए गा कि सरकारी कागजों की खानापूरी हो जाए।" मैं ने यह बात मान ली और जेल से बाहर आ कर शहर गया, चाय पी तथा घर के लिए साग-भाजी खरीदी। रेल-खर्च जेल से मिला ही था, कुछ अपने पैसे जमा थे, वे सब खर्च कर दिए।

घर पहुंच कर आराम से रहने लगा। जेल में रहते समय हिन्दी के शब्द-शास्त्र पर बहुत कुछ सोचा था, जिसे कागज पर उतारने का ढांचा बनाने लगा। इसी समय

सप्ताह समाप्त हो गया और एक दिन जिला-मजिस्ट्रेट का हुक्म या चेतावनी ले कर पुलिस का आदमी आ-धमका। लिखा था––"एक सप्ताह समाप्त हो गया है। यदि तीन दिन के भीतर जमानत-मुचलके न दिए, तो कानूनी कार्रवाई की जाए गी।"

मैं ने कागज ले कर लिखा––'उधर देखिए।' और उसी कागज की पीठ पर यों लिखा––"महोदय, इस हुक्म पर मुझे इतना निवेदन करना है कि कोई बुरा काम मैं ने न किया है, न करने का इरादा है। जब वैसा काम करूँ, तो पकड़वा लीजिए गा। इसलिए जमानत-मुचलके की बात ठीक नहीं है। फिर भी, यदि वैसा करना जरूरी आप समझें, तो निवेदन है कि मैं जमानत-मुचलके देने को तयार नहीं हूँ और घर का प्रबन्ध कर दिया है––फिर छह मास जेल में रहने को तयार हूँ। परन्तु इस बार मैं हाईकोर्ट में हैबियस कार्पस उपस्थित कराऊँगा। सम्भव है, हाईकोर्ट मुझे न छोड़े; परन्तु फैसले में यह जरूर लिखा जाए गा कि "देश में एक जिला-मजिस्ट्रेट ऐसा भी है, जो कैदियों को पहले छोड़ देता है और बाद में जमानत-मुचलके माँगता है।" तब आप की क्या स्थिति हो गी, समझ सकते हैं। इस लिए, यह आप के लिए ही अच्छा हो गा कि अब ये कागज 'दाखिल-दफ्तर' कर दिए जाएं––जमानत-मुचलके की चर्चा न उठाई जाए।"

कागज वापस गया और सब 'दाखिल-दफ्तर'! इस

घटना से यहाँ के कांग्रेसी चिढ़े, कहने लगे ——मजिस्ट्रेट ने विश्वास कर लिया, उसे धोखा देना संस्कृत के पण्डितों का काम है ! मैं ने कहा——'यदि कभी हमारी पार्टी का शासन आया, तो इस मजिस्ट्रेट को तुरन्त बर्खास्त कराऊँगा। कैदियों पर विश्वास ! ऐसे शासक तो देश को डुबो दें गे।" चुप हो गए।

साहित्य-निर्माण

अब मैं साहित्य-निर्माण में लग गया। मैं ने सोचा कि जो-जो इमारतें मैं बना सकता हूँ, उन सब के नमूने (माडल) सामने रख दूँ; लोग देखें, और फिर देश जिस नमूने को पसन्द कर के जो इमारत बनवाना चाहेगा, उसी में लग जाऊँगा। अपने आप वैसा उतना बड़ा काम मैं न करूँगा, यह भी सोच लिया। मैं जिन विषयों पर कुछ अच्छा लिख सकता हूँ, वे ये हैं——१——काव्य के तत्त्व, रस, अलंकार, शब्द-शक्ति आदि; २——हिन्दी का व्याकरण, ३——निरुक्त, ४——हिन्दी साहित्य का इतिहास, ५——बहुविज्ञापित हिन्दी काव्य का 'रहस्यवाद' ६——कांग्रेस युग का राजनैतिक इतिहास, ७——धर्म-विज्ञान, ८——शब्द-शिल्प। प्रायः इन सभी विषयों के नमूने मैं दे चुका हूँ। अब यह देश पर अवलम्बित है कि मुझ से कोई काम आगे ले, या न ले।

उन नमूनों को लोगों ने कैसा समझा है; पसन्द किया है या नापसन्द किया है; सब जानते हैं। इस लिए यहाँ कुछ कहने की जरूरत नहीं है। परन्तु इतना निश्चय है कि किसी भी नमूने की बड़ी इमारत तब तक नहीं बनाई जा सकती, जब तक उस की माँग न हो, कोई बनवाने वाला सामने न हो।

चतुर्थ उन्मेष

१९५१ से आगे

मेरे साहित्यिक जीवन का यही असली और परिपक्व उन्मेष है। जो भी विचार हैं, परिपक्व हो चुके हैं और लिख सकने की शक्ति शरीर में भी है। बैठ सकता हूं; जम कर दो-चार घण्टे रोज और आँखें भी अभी वैसी कमजोर नहीं हुई हैं। परन्तु इसके आगे यह बात न रहे गी। चिन्ताग्रस्त मन का असर शुष्क आहार से बने शरीर पर जल्दी पड़ता है। उम्र का तकाजा भी वैसा ही समझिए। सो, दस वर्ष के भीतर-भीतर काम कर लेने के क्षण हैं, यदि कोई विशेष वाधा न आ पड़े। इस के बाद कुछ नहीं। जिन विषयों पर मैं कुछ लिख सकता हूं, उन पर न लिख सकूं, तो राष्ट्र या राष्ट्रभाषा के प्रति यह मेरा अपराध न हो गा। इस अपराध के अपराधी वे लोग हैं, जो वाधाओं की दीवार खड़ी कर के उसे मजबूत करते रहते हैं। मैं किस्से-कहानी नहीं लिखता हूं, जिन की 'जनरल' बिक्री हो जाए। मेरी कोई पुस्तक निकलते ही तीन-चार सौ प्रतियाँ उस की तुरन्त बिक जाती हैं, और फिर सन्नाटा! ये प्रतियाँ प्रायः पुस्तक-विक्रेताओं की मार्फत हिन्दी के बड़े-बड़े प्राध्यापक (प्रोफेसर) मंगाते हैं और घर में चुपचाप बैठ कर पढ़ते हैं। फिर क्लास में पहुंच कर छात्रों के सामने उन पढ़ी हुई बातों को इस तरह प्रकट करते

हैं, जैसे इन्हों ने ही मनन कर के सब सोचा-निकाला हो। मेरी पुस्तकों का या मेरा नाम ले दें, तो प्रतिष्ठा में कमी आ जाए। ये ही लोग विविध परीक्षाओं के विधाता हैं, जहाँ लगे बिना कोई गम्भीर चीज प्रसार नहीं पा सकती। ये ही लोग उत्कृष्ट साहित्य के नव-निर्माण में प्रमुख वाधक हैं। इन में से कितने ही चोरी भी करते हैं--मेरी पुस्तकों के अंश चुरा कर अपनी पुस्तकों में चुपचाप रख लिए हैं, जिन में बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के प्रतिष्ठित तथा पुराने प्राध्यापक भी हैं। इन में से कई पकड़े भी गए हैं, जो अर्थ-दण्ड भुगतने तथा माफी माँगने पर ही छोड़े गए हैं। इन के लिखित माफीनामे हमारे पास हैं। व्याकरण पर लिखनेवाला कोई भी 'डाक्टर' ऐसा नहीं, जिस ने कुछ न कुछ मेरी पुस्तकों से न लिया हो। परन्तु थोड़ा-बहुत ले भगनेवाले का पीछा नहीं किया जाता। किस के-किस के पीछे दौड़ो! परन्तु जिसे पकड़ लिया, फिर वह छूट नहीं सकता। इन लोगों की लम्बी सूची मैं दे सकता हूँ; परन्तु उसे कुछ दिन बाद ही दूँ गा। वह इस लिए कि भविष्य में आनेवाली पीढ़ी को इस युग की वस्तु-स्थिति मालूम हो जाए; कोई मुझे गाली न दे कि वह इस विषय पर लिख सकता था; पर कम्बख्त साथ ही सब ले कर मर गया!

खण्डन का इलजाम

मैं साहित्य-निर्माण में आगे नहीं बढ़ने पा रहा हूँ; इस

में मेरी खण्डनात्मक शैली को भी दोषी ठहराया जाता है ! बन्धुवर डा० बाबूराम सक्सेना ने झुँझला कर एक पत्र में साफ-साफ लिखा था——"आप ने सभी बड़े-बड़े लोगों की पगड़ियाँ उछाली हैं।" सक्सेना जी आर्यसमाजी हैं। मैं ने उन्हें लिखा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती से ज्यादा मैं ने बड़े-बड़े लोगों की पगड़ियाँ नहीं उछाली हैं !

और, खण्डन किए बिना साहित्य का अन्धकार मिटेगा कैसे ? महान् दार्शनिक शंकर-रामानुज आदि ने भी पूर्व पक्षों का खण्डन किया है। व्यास तथा जैमिनि ने भी दूसरों का खण्डन किया है। अभी कल तक आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि ने भी दूसरों के मत निराकृत किए हैं। सो सब ठीक, केवल यह वाजपेयी बुरा ! इस लिए कि यह काशी-प्रयाग में रहता नहीं है, किसी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नहीं है, 'डाक्टर' नहीं है, साधारण 'एम० ए०' तक नहीं है। इसी लिए बुरा।

गर्वीला स्वभाव

इधर लोग यह भी कहने लगे हैं कि यह गर्व बहुत करता है—ऐसी गर्वोक्तियाँ करता है कि दूसरों को बहुत बुरी लगती हैं। यह भी प्रगति में वाधा ! परन्तु निवेदन यह है कि इस में मेरा दोष नहीं। गर्व की भावना प्रकृति या भगवान् ने पैदा की है। देखना यह होता है कि गर्व करने योग्य कोई चीज है भी कि नहीं और गर्व उचित अवसर पर, उचित ढंग से,

उचित मात्रा में प्रकट किया गया है कि नहीं। गर्व का एकदम अभाव या तो वीतराग योगी में हो सकता है, या फिर गधे में। मनुष्य में तो गर्व की भावना है और वह प्रकट भी होती है। गोस्वामी तुलसीदास तक गर्व करते देखे गए हैं। जब उन की सरस कृतियों का भी मजाक उड़ाया गया, तब काशी के उन 'विद्वान्' लोगों को लक्ष्य कर के उन्हों ने कहा है—जो 'बिनु काज दाहिनेहुं बाएँ' हो कर बाधा पहुंचाते थे, जिन्हें वे 'भूत' कहा करते थे—

खल उपहास होहि हित मोरा,
काक कहहिं कलकंठ कठोरा।

यहाँ तुलसी अपनी वाणी को मीठी काकली नहीं बतला रहे हैं क्या? यह गर्व नहीं है क्या?

इसी तरह की उपेक्षा पर सन्त कबीर ने भी वैसी गर्वोक्तियाँ की हैं। शाहजहाँ के समय में पण्डितराज जगन्नाथ दिल्ली में रहते थे, जिन के पाण्डित्य-प्रभाव से देश भर के पण्डित हतप्रभ हो गए थे। परन्तु 'स्थानं प्रधानं' के कारण काशी के पण्डितों ने उन की उपेक्षा की। उस समय काशी में सर्व-श्रेष्ठ पण्डित थे श्री अप्पय दीक्षित। पण्डितराज जगन्नाथ ने उस समय जो तात्त्विक गर्वोक्तियाँ प्रकट की हैं, बड़े रस के साथ पढ़ी जाती हैं। और श्री अप्पय दीक्षित को तो पण्डितराज ने साहित्य-शास्त्र में ऐसा रगड़ दिया है कि क्या कहा जाए!

सो, गर्व तो स्वतः प्रकट होनेवाली चीज है। उसे कैसे

रोका जाए ? देखिए यह कि गर्व के लायक चीज है या नहीं और गर्व प्रकट करने के कारण (परिस्थिति आदि) हैं, या अकाण्डताण्डव किया गया है।

मैं क्या गर्व करूँ ! गर्व प्रकट करने योग्य चीजें तो मैं अभी तक दे ही नहीं पाया हूँ——

सोचा मैं ने उषः-काल में,
मा का भवन सजाऊँ।
अभिनव अर्थ उपार्जित कर के,
मैं भी भेंट चढ़ाऊँ।
किन्तु भक्त-पद-प्रक्षेपों से,
धूल यहाँ भर आई।
रहा बुहार उसी को तब से,
यों सब उम्र गँवाई !

परन्तु तो भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि हिन्दी में——

तद् दृष्टं यन्न केनाऽपि, तद् दत्तं यन्न केनचित् ।

इसके साथ यह भी कि यह सब काम करने के लिए लोहे के चने चबाने पड़े हैं——

'भुक्तं चाऽभुक्तमन्येन' !

अब जी भर गया है और दिल भर आया है। अब उस दिशा को छोड़ रहा हूँ। मैं लिखना अब छोड़ रहा हूँ; इसका मतलब यही है कि दिशा बदल रहा हूँ। इसके आगे अब गम्भीर विषयों के चिन्तन-लेखन में समय न

लगाकर दूसरे कुछ सार्वजनीन विषयों पर ही लिखूँ गा ; जैसे ——साहित्यिक पूर्वजों के और अपने संगी-साथियों के संस्मरण, आचार्य द्विवेदी तथा राजर्षि टंडन आदि विभूतियों के जीवन-वृत्त, संस्कृत के प्राचीन तथा अर्वाचीन असाधारण विद्वानों के जीवन-संस्मरण, नागरिक जीवन, दाम्पत्य-जीवन, पौराणिक कहानियाँ आदि । ये भी काम की चीजें हैं और इन विषयों पर लिखी चीजें 'कोर्स' की मुहताज न हों गी । वे स्वतः जनता में चलें गी । यह सब बतलाने के लिए ही यह संस्मरण-पुस्तक है । इसे सार्वजनिक रूप से प्रकट की गई मेरी सफाई या वसीयतनामा भी आप समझ सकते हैं । पिछले एक लम्बे युग में मैं ने क्या किया, क्या न कर सका; इन सब बातों का लेखा-जोखा राष्ट्र को देना ही चाहिए । ऐसा न करने से भ्रम रहता । लोग समझ न पाते कि वाजपेयी के 'असफल' रहने का कारण क्या है । इस से समझ में आ जाए गा कि इस व्यक्ति का झगड़ालूपन ही वैसी असफलता का कारण है । कितने झगड़े ! ऐसे व्यक्ति को, इस युग में, कैसे वैसी सफलता मिले ! ऐसे मार्ग से बचना चाहिए ।

——:o:——

वाजपेयी जी के कुछ अन्य ग्रन्थ

ब्रजभाषा का व्याकरण

अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ, 'महाकवि हरिऔध' कविवर बाबू मैथलीशरण गुप्त, विद्वद्वर डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, बाबू सम्पूर्णानन्द तथा डा० अमरनाथ झा आदि के द्वारा प्रशंसित। मूल्य तीन रुपए।

राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण

(उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा पुरस्कृत)

हिन्दी का यह आधारभूत व्याकरण है। इसके पहले हिन्दी-व्याकरण एक तमाशा भर था। मूल्य चार रुपए।

हिन्दी-निरुक्त (भाषा-विज्ञान)

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)

हिन्दी का विकास तथा भाषा-विज्ञान समझने के लिए १००% मौलिक ग्रन्थ। मूल्य, सवा दो रुपए।

साहित्य-निर्माण

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)

साहित्य-निर्माण की शिक्षा। मूल्य दो रुपए।

राष्ट्रभाषा का इतिहास

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए किस ने स्वप्न देखा, किस ने क्या काम किया, किस ने बाधा डाली, संविधान में हिन्दी का क्या रूप स्वीकृत हुआ है; इत्यादि का सप्रमाण विस्तृत विवरण। मूल्य तीन रुपए।

तथा

कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास	१।)
मानव-धर्म-मीमांसा	२।)
स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति श्री सुभाषचन्द्र बोस	।।।)
काव्य में रहस्यवाद	।=)
मि० ह्यूम की परम्परा (मि० ह्यूम=कांग्रेस के पिता)	।।)

मँगाने का पता—

हिमालय एजेंसी, कनखल (उत्तर प्रदेश)